लापरवाह के संस्मरण

—तनसिंह

प्रकाशक :
श्री संघशक्ति प्रकाशन प्रन्यास
ए/8, तारानगर, झोटवाड़ा
जयपुर 302012
दूरभाष : 2466353

श्री क्षत्रिय युवक संघ ग्रन्थमाला का पुष्प

प्रथम संस्करण : **1990**
तृतीय संस्करण : **2019**

मूल्य : **30/- रुपये**

मुद्रक :
गजेन्द्र प्रिन्टर्स,
सांगों का मन्दिर, सांगों का रास्ता,
किशनपोल बाजार, जयपुर

विषयानुक्रमणिका

- परिचय 5
- जलजला 11
- नौकरी की खोज 15
- नियमों की दासता 20
- कर्तव्य और भावना 25
- विद्रोह की आग 29
- दृष्टिकोण 36
- कृतज्ञता 40
- विदा 44
- तरीका 49
- पंछी 54
- मेरा आक्रोश 59

पूर्वकथन

समाज में संस्कार निर्माण का कार्य अत्यन्त गुरुत्तर कार्य है। यह अत्यन्त कष्ट साध्य भी है। क्योंकि हमारी वर्तमान अवस्था से उबरने का यही एक मात्र मार्ग है, इसलिए कितना भी कठिन हो, करने योग्य कर्म यही शेष रहता है। अपनी सम्पूर्ण लगन व निष्ठा से जीवन भर इस तपस्या के मार्ग पर जो चलेगा, उसके लिए परवाह करने योग्य केवल उसका उद्देश्य और उसका संकल्प ही रह जाता है। इससे असम्बद्ध अन्य सभी कुछ से वह स्वतः ही लापरवाह हो जाएगा। ऐसे लापरवाह की अनुपम ध्येय–निष्ठा,जहां सहयोग और समर्थन जुटा लेती है,वहां विरोध वृत्ति भी सिर ऊंचा करती रहती है। उनका सहारा पाकर इस तपोयात्रा के हर राहगीर के अन्तर का सहयोग और विरोध भी अपने समाधान खोजता हुआ आगे बढता है। जो समाधान नहीं खोज पाते वे पिछड़ जाते हैं और जो निरन्तर इन प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते रहते हैं,वे धीरे–धीरे सरलता और निष्कपटता जैसे बहुत बड़े गुणों को स्वतः ही सहज प्रक्रिया से अंगीकार करते जाते हैं। मानसिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति के लिए सरलता और निष्कपटता अत्यन्त आवश्यक है। संघ की प्रवृत्ति को प्रसारित व पुष्ट करने के इस अनुष्ठान ने समाज में ऐसे भाव व ऐसी पृष्ठ–भूमि तैयार की है, जिस पर कोई भी देश तथा समाज विश्वास व गर्व कर सकता है। उस सरलचित्तवृत्ति का ही परिणाम है कि आज की भौतिकवाद की इस अन्धी भाग–दौड़ से पूर्ण दुनिया में त्याग और तपस्या शरीर धारण करती नजर आ रही है। राह की हर बाधा और प्रलोभन को ठुकरा कर मिलन की राह को, एक्य की राह को, ज्ञान की राह को पूर्णतः आत्मसात करने वाले लापरवाह तैयार हो रहे हैं। क्योंकि वे जानने लग गए हैं कि जब अन्तिम छोर वही है, तो क्यों न उस ओर समझ के साथ, उस सत्य को स्वीकार करके बढ़ा जाए। वहाँ पहुँचे बिना किसी को शांति और सन्तोष नहीं मिलता, इसलिए भटकाव छूट गया है। एक–एक कदम आगे बढने के साथ अद्‌भुत प्रेरणा और सामञ्जस्य का साक्षात्कार हो रहा है।

'लापरवाह के संस्मरण' लेखक के अपने अनुभव हैं तो कुछ इस तपोयात्रा के अनुगामियों के चित्रण हैं। ये संस्मरण संघशक्ति के जनवरी 1965 से दिसम्बर 1965 तक के अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुके हैं, इन्हें अब पुस्तक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रकरण : एक

परिचय

तीन चार वर्ष हो गए संघशक्ति के सम्पादक महोदय ने इस सेवक को अपने संस्मरण या लेख भेजने के लिए कहा था। बन्दे की हालत यह है कि उनका खलीता पता नहीं पैदल यात्रा में सैनफ्रांसिसको चला गया या योकीहामा। बात आई गई हो गई। सम्पादकजी ने फिर कभी तकाजा नहीं किया। इधर हमारी हालत तो हम ही जानते हैं। कागज मिल गया, तो कलम किसी की शवयात्रा में चली गई, वापिस आई, तो हमारा जनाजा निकलते निकलते बचा। शायद सड़क पार करते किसी आलीजे की मोटर फुर्रर–चिड़िया सी उड़ती पास से गुजर गई और हम मिर्जा गालिब की तरह फिकर करने लग गए कि चपेट में आ गए होते, तो क्या होता और यदि मैं उचक कर सड़क के किनारे न गया होता, तो क्या होता ?

सार यह है, कि इस सेवक को यह गरूर है, कि यदि संसार में नहीं तो हिन्दुस्तान में लापरवाही की प्रतिस्पर्धा हो, तो बन्दा परमवीर चक्र अवश्य हासिल कर लेगा। वैसे आप जानते ही हैं ऐसे चक्र तो मिल जाते हैं लेकिन इस प्यारी जान से तो हर हालत में हाथ धोना ही पड़ता है। खैर, तो मेरे जैसा व्यक्ति समय पर लेख लिख डाले, यह कैसे संभव होता। मगर आपको यह जानकर बहुत दुःख होगा कि मैं अब लापरवाह नहीं रहा। दुख आपको इसलिए होगा कि ओलम्पिक खेलों में या तो हाकी की टीम ने स्वर्णपदक प्राप्त किया,या फिर लापरवाही में इस ताबेदार पर ही दारमदार था। मगर दुख है, कि अब मैं लापरवाह नहीं रहा।

शायद अब आपको यह भी जिज्ञासा हो, कि मैंने यह अवनति कैसे कर ली ? मगर मैं खुदा को हाजिर नाजिर रखकर कहता हूँ कि मैं इसे अवनति नहीं मानता। इसलिए कि मेरी पहले की और इस नई जिन्दगी में हजारों हाथों का फर्क हो गया है। पहले इस बेकार जिन्दगी का कोई लक्ष्य था भी, तो मैं उसकी परवाह नहीं करता था और आजकल उसके लिए इतनी परवाह करने लग गया हूँ कि और किसी की परवाह नहीं करता। इस दृष्टिकोण से आप जरूर कह सकते हैं कि मैं अब भी लापरवाह हूँ। बहरहाल मुझे यह मानने में कोई ऐतराज नहीं है, यदि आप यह मान लें, कि अब मैं अपनी जिन्दगी के प्रति बिलकुल

लापरवाह नहीं, उसकी थोथी टीमटाम के प्रति जरूर लापरवाह हूँ।

भगवान कृष्ण ने गीता में योगियों को भी लापरवाह होने की शिक्षा दी है जैसे सुख दुख में समभाव रखना, यानी सुख न मिले या दुख मिल जाय तो दोनों ही अवस्थाओं में परवाह न करना। योगियों के लिए तो उन्होंने कहा है कि संसार के भोगों में योगी को सोना चाहिए और त्याग में जगना चाहिए। अर्थात् भोगों की परवाह मत करो और परवाह करो, तो उसकी विपरीत अवस्था की।

आपको उबकाई आ रही होगी कि श्री लापरवाह जी क्या भाषण झाड़ने लग गए ? स्वाभाविक है। पहले मुझे भी किसी का उपदेश और सद् वाक्य सुन कर 'हरे हरे' कहने की मन में आती थी और किसी भाषण से पूरा ऊब जाता, तो 'सियावर रामचन्द्र की जय' बोलने पर उतारू हो जाता था। लेकिन मेरे वे दिन लद गए।

तो मैं आपको अपना परिचय देना चाहता हूँ। उन दिनों की याद दिलाना चाहता हूँ और इन दिनों की बातें बतलाना चाहता हूँ, ताकि आप जो भी रास्ता अपनाएँ, विचार पूर्वक अपनावें। मैं लापरवाह इसलिए था, कि जब से इस धरती पर मैंने अवतार लिया है तब से लेकर आज तक कोई मेरी परवाह नहीं करता था। क्योंकि दुनिया मेरे लिए लापरवाह थी, इसलिए मैं भी उसके लिए लापरवाह था। मेरी लापरवाही इतनी बढ़ गई कि अपने लिए भी मैं लापरवाह हो गया। इस दुनिया में यह जिन्दगी किस काम की, जिसका किसी को फिकर नहीं हो। यदि किसी को मेरी जिन्दगी का फिकर नहीं, तो मैं ही उसकी क्यों फिकर करूँ ? वैसे मेरे विचार दर्शन से आप सहमत होंगे। न भी हों तो कोई परवाह नहीं। लेकिन अब मेरे विचार दर्शन में एक जलजला आ गया है। मेरी इस तुच्छ जिन्दगी की फिकर करने वाले लोग मिल गए तो मुझे भी इसकी फिकर होने लगी, यानी परवाह होने लगी।

दूसरों के लिए फिकर करने वाले मेरे लिये आश्चर्य थे। मैं जिन परिस्थितियों में पला और बड़ा हुआ,उसमें किसी के लिए किसी को परेशान न होना ही सिखाया जाता था। फिर मैंने तो एक नहीं अनेक लोगों को ऐसा देखा, जो केवल दूसरों की फिकर में जी जान से जुटे हुए हैं। मैं समझ नहीं पा रहा था, कि मैंने आजतक जो देखा वह सत्य था, अथवा अब जो देख रहा हूँ वह सत्य है ? उसी दिन मैं अपने जीवन के पहले चौराहे पर खड़ा हुआ यही निर्णय करना चाहता था, कि इन दो मार्गों में से कौनसा मार्ग अपनाऊँ ? अपनी लापरवाह आदत के कारण मैंने अधिक न सोचकर इन लोगों का अनुकरण करना शुरू किया। मैं भी उन्हीं की भांति दूसरों की फिकर में लग

गया। यह भी एक नशा है। अपने आपको इससे एक अजीब प्रकार का सन्तोष मिलता है कि मैं भी परमार्थी हो गया हूँ,राह मिलती गई और मैं बढ़ता गया। सच कहता हूँ मुझे उस विचित्र नशे ने ऐसा छकाया कि मैं बिना सोचे समझे बढ़ता ही गया। अपनी धुन में इतना मतवाला था, कि मुझे अपना तो थोड़ा बहुत भी ख्याल नहीं रहता था। कपड़े गन्दे हैं, तो परवाह नहीं, बिस्तरों और रजाई पर चीकट जम गया है, तो चिन्ता नहीं, हजामत बढ़ गई है, तो बढ़ती जाय, लेकिन मेरे पास दूसरों की फिकर के सिवाय अपनी फिकर करने का कोई सवाल ही नहीं था। अच्छा खासा बहरूपिया तो पहले ही था, और बिना सोचे समझे नकल करने के कारण और भी अधिक मसखरा सा बन गया था। लोग मेरी हंसी उड़ाते, मगर न मैं उनकी परवाह करता और न अपने बहरूपियेपन की फिकर करता,क्योंकि मैं दूसरों की फिकर करने में जो लगा था।

एक दिन जीवन का दूसरा चौराहा आया। उन्होंने बताया, कि दूसरों की फिकर करना निःसन्देह स्तुत्य है,किन्तु अपनी फिकर न करने का मतलब सेवा की बुनियाद मिटाना है। दूसरों की फिकर परोपकार के लिए नहीं, सेवा के लिए करो। जिनकी सेवा करो उनको अपनी दया और कृपा का पात्र मत मानो, उन्हें आराध्य मानो। उनकी सेवा में अपना दान नहीं, शीश झुकाओ। दान करो, तो अहंकार से नहीं, विनय से करो। यकायत मुझे विवेकानन्द के एक पत्र का स्मरण हो आया जिसमें उन्होंने अपने एक शिष्य के लिए लिखा था कि वह दीन–दुखियों को भगवान माने। उनकी सेवा करे। इस नये चौराहे पर भी मैंने उन्हीं लोगों के उपदेश का मार्ग अपनाया। दूसरों की परवाह जरूर करूँगा लेकिन अपने आपको भी सलीके का बनाऊंगा। जैसे दूसरों को बनाना चाहता हूँ वैसा मैं पहले बनूंगा।

तबसे मेरी जिन्दगी का रुझान बदल गया। अनेक चौराहे जीवन यात्रा में आते गए और मैंने अनुभव किया, कि लापरवाही चाहे अपने प्रति हो चाहे दूसरों के प्रति, वह ईश्वर का ही तिरस्कार है। सत्य का ही तिरस्कार है। दूसरों में जो ईश्वर और सत्य है, वही मेरे भीतर भी बसता है इसलिए न उस ईश्वर की उपेक्षा कर सकता और न इस ईश्वर की।

असल में किस्सा यह हुआ था, कि मेरा पंछी नामक एक मित्र था। हम दोनों पहली ही बार गर्मी की छुट्टियाँ एक साथ बिताने के इरादे से एक स्थान पर जा रहे थे। वहां मेरे नए साथी जो एक दूसरे को साधक मानते हैं, साधना के लिए जा रहे थे और हम दोनों भी उनमें शामिल थे। मेरे मित्र पंछी के पास होलडोल, अटैची और न जाने कितना अटर–पटर सामान था, किन्तु मेरे पास तो मात्र चादर थी। दस मील पैदल चलना था और पंछी के सामान को ले जाने के लिए नितान्त अपरिचित व्यक्ति परस्पर आग्रह पूर्वक सहयोग दे रहे थे। भारी बोझ उठाकर भी वे प्रसन्न मुद्रा में थे। मेरे लिए यह दृश्य अनोखा था। मन ही मन इच्छा हुई, कि मैं भी किसी का बोझ उठाऊं लेकिन संकोच वश रह गया। पांच छः मील चलने के बाद एक भारी सामान वाले सज्जन को सहयोग देना चाहा। वह थक गया और उसे सहयोग की जरूरत थी। मैंने उससे कुछ सामान लेने के लिए आग्रह किया। वह मुझे घूरकर देखने लगा। लग रहा था, जैसे आँखों ही आँखों में वह मेरे उत्तर को पढ़ना चाहता था। लेकिन पढ़ न सका और इसलिए उसने पूछा–''कौनसा शिविर है तुम्हारा यह?''

'' मैं पहली ही बार आया हूँ।''

''तब नहीं दूँगा।''

अब तो मैंने बहुत आग्रह किया किन्तु वह तो जैसा पहले निर्णय कर चुका था, उसी पर दृढ़ रहा। वह चलता जा रहा था। मैं उसके पीछे–पीछे चल रहा था। पसीने के कारण उसकी बनियान तर थी और वह पसीना मुझे अपना परिचय बता रहा था, कह रहा था, मैं ही इन्सानियत का पानी हूँ। पसीना तो मुझे भी आ रहा था, लेकिन मेरे पसीने में अपने स्वार्थ की बू थी और वह पसीना परमार्थ की खुशबू से महक रहा था। आंखों में उसके झरते हुए पसीने की ओर अधिक देखने का साहस नहीं था। नजरें झुकाली। बालू रेत पर उसके चरण–चिह्न दिखाई देने लगे। अभी तक उस पसीने को देखने के कारण उन चिन्हों की ओर ध्यान ही नहीं गया था।

पद चिन्हों की कोई भाषा नहीं होती और न वे चिन्ह ही कुछ बोल रहे थे, लेकिन चिन्ह संकेत को कहते हैं और वे किसी भी भाषा से अधिक प्रभाव पैदा कर रहे थे। कह रहे थे, ओ यात्री ! पीछे भी चल रहे हो, मगर सही अनुकरण नहीं कर रहे हो। मैंने उनकी भाषा की अवहेलना की। लेकिन आँखें बरबस वहीं जाती थी। अब वे चिन्ह कुछ बोल नहीं रहे थे। चुप थे। उनमें एक मौन व्यंग था। नहीं,नहीं–मानव सेवा के उन तपस्वी पद–चिन्हों में व्यंग की धृष्टता कैसे हो सकती थी ? वह तो मेरी ही आत्मा थी, जिसने जीवन में पहली ही बार अंगड़ाई लेकर कहा,–''बस ऐसे ही हो।'' मन ने तर्क किया,''मैं क्या करूँ, जब वह बोझ देने के लिए ही तैयार नहीं, तो बलपूर्वक कैसे लूँ ?''

उस दिन मेरी आत्मा ने बड़े पते की बात की। ''जिसे तुम अपना कर्तव्य समझते हो, उसे करने का तुम्हें अधिकार है। कोई तुम्हें अपने अधिकार से वंचित करना चाहे तो भले ही बल लगाना पड़े–बलपूर्वक अपने कर्तव्य को करो।'' मगर मैं लापरवाह जो ठहरा। मेरी आदत ही नहीं थी, कि मैं एक बात

पर इतनी चिन्ता करने लगूँ। राह कटती गई, उसका पसीना झरता गया, चिन्ह उभरते गए और मैं भी उन्हें उपेक्षित करने की आदत बना चुका था। दो मील और चलने के बाद उसने बोझ रास्ते के किनारे रख दिया और वह मुंह से हवा निकालने लगा सुस्स्स...! मैं तनिक खड़ा रह गया। वह बोला–'' तुम चलो, मैं थोड़ा पसीना सूखा कर आ रहा हूँ।'' जी में आया कहूँ–''नहीं, यह पसीना कभी सूखे नहीं,बहता ही जाये। सोई मानवता की थाती है यह।'' पर कह नहीं सका और मैं भी उसके पास बैठ गया। शायद उसने सोचा होगा कि यह थक गया है और कुछ न बोला, सिर्फ यही कहा,–''सामान का सहारा लेकर आराम करलो'' यंत्रवत मैं पीठ का सहारा लेकर अध लेटा हो गया। वह सहारा मुझे सैकड़ों बिच्छुओं की तरह डंक लगा रहा था। कह रहा था, एक तू भी आदमी है और एक यह भी आदमी है। यह आद्योपान्त इन्सान है और तेरे पास केवल इन्सान की चमड़ी है! मैं कुछ कहूँ, उससे पहले ही उसने पूछा, ''तुम्हारा परिचय ?''

मैंने अपने नाम गांव आदि बता दिये। पर उससे क्या पूछता ? उसके नाम गांव से कहीं अधिक उसका काम ही उसका परिचय बता रहा था। मैं उस परिचय में खो गया और वह किसमें खो गया ध्यान ही नहीं, मैं लापरवाह जो ठहरा। जाने कितने युग बीत गए। कानों में एक ध्वनि सुनाई दी,– ''जागो भाई! दिन बहुत चढ़ आया है।''

मैं हड़बड़ा कर जाग उठा। मुझे सचमुच नींद आ गई थी। लगा जैसे 15–20 मिनट नहीं सोया, युगों से सो रहा हूँ। युगों से ही मुझे जगाने की चेष्टा की जा रही हो, लेकिन आज ही 'जागो भाई' की आवाज इतनी स्पष्ट सुन सका हूं। इन 15–20 मिनट की नींद में मैंने युगों के स्वप्न देखे। स्वप्न में मैं तलवार चलाए जा रहा था। अंधाधुंध तलवार चला रहा था। ऋषि–मुनियों ने, जिन्होंने मुझे तलवार चलाकर रक्षा के लिए अग्रसर किया था, उन्होंने ही रक्तपात की भर्त्सना की। कहा तलवार म्यान में करो। पर मैं तलवार चलाता रहा। बुद्ध ने कहा–प्रबुद्ध हो, जागो। लोह की नहीं, प्रेम की तलवार को भी चला। वह फौलाद से भी मजबूत है। मैं चलाता गया। महावीर ने कहा, निरपराधों की बलि मत दो। पर मैं नींद में था और नींद में ही तलवार चलाये जा रहा था। मैंने अपना एक मात्र तलवार चलाना ही कर्तव्य समझ रखा था। जब शत्रु खतम हो गए तो भाइयों पर चलाई, बाप और बेटों पर चलाई। मित्रों व प्रजा पर चलाई। जब मेरे न बाप रहे, न बेटे, न मित्र, न प्रजा, तब मैंने बकरों पर चलाई। तलवार मुझसे थक गई, वह भोंटी हो गई, जंग लग गया, पर मैं चलाता ही रहा। लापरवाह जो ठहरा।

धर्म के पोथे, अवतारों के उपदेश और आर्त पीड़ित लोगों की कराहें मेरी समझ में नहीं आई, वाणी मुझे अस्पष्ट लगी,लेकिन ये सात शब्द मुझे बिलकुल स्पष्ट सुनाई दिये–''उठो भाई! दिन बहुत चढ़ गया है।'' सचमुच मैने जागने पर देखा कि दिन बहुत चढ़ आया है। दिन की धूप में मैंने देखा सामने एक मंजिल है, दिल और दिमाग में एक जागृति है और दिन जितना चढ़ना था, चढ़ चुका, अब तो दिन ढ़लने को है। मैं जाग गया। ये सात शब्द सप्तश्लोकी गीता बन गए मेरे लिए।

साथी ने अपना पुराना बोझा उठाया और मैं तड़फ कर हिस्सा बंटाने के लिए उलझ गया। उसने 'नहीं नहीं' किया। मैं बोला,'मेरा भी हक है।' जी हाँ–काम करने का हक, सहयोग देने का हक, एक ऐसा हक है, जिसमें कोई इनकार नहीं कर सकता और मेरा वह हमराही भी इनकार नहीं कर सका। केवल मुस्करा दिया। उसकी मुस्कराहट फूलों से भी सुन्दर लग रही थी। उसी समय मेरा पुराना मित्र पंछी भी आ पहुंचा था। वह भी मुस्करा रहा था, लेकिन उसकी मुस्कराहट में व्यंग था जैसे कह रहा था कि तुम वह लापरवाह नहीं रहे जो मेरा मित्र था,वह बोझ रहित था। उसका बोझ दूसरे उठाये जा रहे थे। मैं उसका मित्र था, लेकिन वह पंछी है और मैं पंछी नहीं, टहनी हूँ। मेरी और उसकी दोस्ती भविष्य में भी रहेगी, लेकिन पंछी और डाली जैसी दोस्ती।

तब से मैं अपनी मंजिल पर चल रहा हूँ। यही मेरा परिचय है। क्या मेरा नाम और गांव ही मेरा सच्चा परिचय दे सकते हैं ? नहीं। नाम और गांव मैंने नहीं चुने। मैंने तो अपनी मंजिल चुनी है। लापरवाही को छोड़ कर दूसरों के लिए फिकर करना शुरू किया है और साथ ही अपनी भी फिकर, कि मैं पंछी नहीं डाली हूँ।

तो दोस्तो! आपने संसार के इतिहास में अनेक क्रान्तियों के इतिहास पढ़े होंगे। लेकिन मेरी क्रान्ति के इतिहास का यही श्रीगणेश है। दुनिया की क्रान्तियों के लिए मेरी क्रान्ति चाहे अत्यन्त ही महत्त्वहीन हो, लेकिन मेरे लिए यह जलजला सबसे अधिक महत्त्व का है। उनमें खून बहा और इसमें पसीना बहा। उनको पढ़ने के बाद भी लापरवाह बना रहा और इस जलजले के सात शब्दों ने मुझे लापरवाही से हमेशा–हमेशा के लिए जगा दिया। अब मैं सम्पादक जी को अपने संस्मरण भेजूंगा। लापरवाही मैंने छोड़ दी है। लापरवाह नाम भी केवल इसलिए नहीं छोड़ रहा हूँ, कि मुझे यह जलजला सदा याद रहे और यह भी याद रहे, कि दृढ़ इच्छा के आते ही लापरवाह की लापरवाही हमेशा के लिए भाग खड़ी होती है।

प्रकरण : दो

जलजला

मेरा मित्र पंछी भी देखने आया था और मैंने भी देखा। हमारा दोनों का दृष्टिकोण परस्पर भिन्न था। उसने जो कुछ देखा उसे उसने सत्य माना और मैंने जो कुछ देखा उसे मैं सत्य मान रहा हूँ, पर यथार्थ में सत्य क्या है, यह तो सत्य–स्वरूप ही जाने। हम दोनों तो उस स्वरूप को देखने, अनुभव करने और उसके प्राप्य अंश को कार्यान्वित करने के लिए आये थे। पंछी भी मंजिल पर तो जा रहा था, किन्तु अनजाने ही बढ़ रहा था और यह जानकर बढ़ रहा था, कि उस मंजिल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु इधर मैं एक लापरवाह था, जो मंजिल पर यह सोच कर बढ़ रहा था, कि यह मंजिल मेरी है। यह साथी मेरा है, यह चेतना मेरी है और यह उत्तरदायित्व का बोझा भी मेरा ही है।

मुझ जैसे लापरवाह के लिए यह परिवर्तन कोई मामूली नहीं,लेकिन यह पाठशाला भी कोई मामूली नहीं,जहां जीवन घड़े जाते हैं। साधनों के दृष्टिकोण से इस पाठशाला में कुछ भी नहीं। न स्कूल बिल्डिंग, न टेबल–कुर्सी, न किताबें, और न ट्यूशन फीस। न चपरासी, न खेल का सामान। कोई विश्वविद्यालय से भी सम्बन्ध नहीं, फिर भी मैं बदल गया हूँ। यह एक जलजला था और इसकी एक लम्बी कहानी है। इसी जलजले की कहानी के साथ एक लापरवाह की कहानी भी घुलमिल गई है। मैं उसी जलजले की कहानी आपको बता रहा था।

सबसे पहले किसी को कुछ करना सिखाया जाता है तो दुनिया का रिवाज है, कि जिसको जो सिखाया जाय, वह शब्द के माध्यम से बताया जाय। प्राचीन काल में भी सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद न करो, माता पिता की सेवा करो आदि न जाने कितने उपदेश दिये जाते थे। लेकिन यहां कुछ करने से पहले न करने का ही उपदेश दिया जाता था। बात मत करो, विशल बजने पर लेट मत आओ। बौद्धिक सुनते नींद मत लो। समझ में न आए, फिर भी भाग कर मत जाओ। रास्ते चलते किसी वृक्ष के फल मत खाओ। संक्षेप में कहा जाय, कि हम जो कुछ करते आ रहे हैं, उसे करना बन्द कर दें। मेरे लिए पहली ही शिक्षा थी, क्योंकि मैं लापरवाह था और मेरे लिए यही संकेत था कि मैं लापरवाही न करूं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कई अपने आपको बुद्धिमान भी समझते होंगे, उन्हें भी शायद यही संकेत हो, कि अपनी बुद्धिमानी मत झाड़ो। हम अपने साथ जो कुछ लाये हैं, उसका बोझ उतार दें और जो दिया जा रहा है, उसी

बोझ को ग्रहण करें।

बात बड़ी पते की है। आज भी कई लोगों से यह सवाल पूछा जाता है, कि तुम्हारा इस यज्ञ के प्रति क्या उत्तरदायित्व है ? लच्छेदार भाषा में भिन्न–भिन्न लोग लम्बीचौड़ी बातें लिखते हैं किन्तु जब लापरवाह को यह प्रश्न पूछा गया, तो उसने झट से स्पष्ट किया, मेरा यहां कोई उत्तरदायित्व नहीं, केवल वही उत्तरदायित्व है जो मुझे सौंपा गया है। दुनिया में अनेक लोगों को भूत लगते हैं, अनेक पागल बनते हैं, बहुत से पंछी की भांति पंख फड़फड़ाते हैं, किन्तु मेरा उत्तरदायित्व उन्हें इस काम से रोकना भी नहीं है। मेरा तो केवल इतना ही उत्तरदायित्व है, कि जो काम मुझे दिया जाय, केवल उसे ही पूरा करना है। यह सब बातें शाब्दिक चर्चा से नहीं सीखी जाती, यह गहन मनन से सीखी जाती हैं। फिर भी शब्द चर्चा का यहां अपना महत्त्व जरूर है। कोई आदमी किसी समस्या का सुलझा हुआ उत्तर दे, इसका मतलब नहीं कि वह एक उत्तरदायी व्यक्ति बन गया है। उत्तर देने का अर्थ है, उसे उस शस्त्र से सम्पन्न कर दिया है, जिससे वह दुनिया पर विजय पा सकता है, लोगों को निरुत्तर कर सकता है।

लापरवाह ने इसीलिए कभी चर्चाओं में अपने आपको फंसाना नहीं चाहा, उसे दुनिया पर फतह नहीं पानी है। उसे तो सबसे पहले अपने आप पर फतह पानी है। बोलने से पहले सुनना है। मुझे क्या करना है, उससे पहले मुझे क्या जानना है यही मेरे लिए समस्या थी। इस समस्या के हल के लिए मैं बौद्धिक वर्ग में ध्यान देता था। हाँ बौद्धिक वर्गों में इस छोर से उस छोर तक की अनेक बातें हुआ करती थी। लेकिन मैं केवल इस छोर की बात ही पकड़ता था। क्योंकि मैं जानता था, बौद्धिक मेरे लिए ही नहीं है, सबके लिए है और उसमें मेरे लिए क्या क्या बातें हैं, केवल वही ध्यानपूर्वक ग्रहण करता था।

मुझे एक शंका होने लगी, तीन तीन ही नहीं, सात सात घण्टों तक लगातार जो बोले ही जा रहे हैं, वे अपने साधारण जीवन में बहुत कम बोलते हैं। उनके प्रति आम लोगों की शिकायत थी, कि वे रूखे हैं, शब्दों का दिवाला है, आने वालों को कुशल क्षेम भी नहीं पूछते ? आखिर इस विचित्र कोटि के 'गूंगे' एक निश्चित अवसर पर सर्वाधिक वाचाल क्यों हो जाते हैं ? शेष समय में सामान्य शिष्टाचार भी क्यों भूल जाते हैं ? एक दिन ध्येयनिष्ठा पर प्रवचन चल रहा था, जिसमें एक उदाहरण ने मेरा सम्यक् समाधान कर डाला। कई बहनें मोर्चे पर अपने भाइयों और सम्बन्धियों को रक्त का तिलक कर रवाना करती हैं, कहा गया, कि रक्त सिर्फ मोर्चे पर ही बहाया जाना है, शेष स्थान पर बहा हुआ रक्त बेकार गया। मुझे भी समझ में बात आ गई। ध्येय से निरपेक्ष रहने वाला शिष्टाचार भी व्यर्थ गया। तब से मैंने भी गांठ बांध ली। और यह भी गांठ बांध ली, कि सार्थक रूप से एक घण्टे के लिए बोलना हो,

तो महीना भर नीरवता में अध्ययन करो। यह भी समझा कि बोलने जैसे कार्य में जिस छोटी सी प्राण शक्ति का क्षय होता है, उसे भी लक्ष्य के अतिरिक्त न खर्च की जाय, यह क्रियात्मक ध्येय निष्ठा थी।

मैंने खेल देखे, खेलों के मैदान देखे, सधे हुए और नए खिलाड़ी देखे, खेलों के दांव देखे, नियमों की निष्ठा देखी। सब कुछ इतना देखा कि देखने की इच्छा ही नहीं रही। सच तो यह है, कि शेष देखने जैसा कुछ रहा ही नहीं। लापरवाह का मतलब होता है, किसी भी वस्तु में रुचि का न होना और मुझे एक के सिवाय अब किसी वस्तु में रुचि नहीं रही। मैं अब सबके लिए लापरवाह था, लेकिन एक लक्ष्य के लिए बिलकुल ही लापरवाह नहीं रहा। सब कुछ ऐसे बदल गया, जैसे बेहोशी में आपरेशन हो गया हो। किसी और का दिल और किसी और का दिमाग मेरे ढांचे में इस तरह फिट कर दिया, कि कष्ट तो दूर रहा, पता तक नहीं लगा, इस जलजले का ।

इस लापरवाह के पहलू में किसी पीड़ित का दिल है, और इसके शीश में किसी ध्येय निष्ठ का दिमाग है। क्या यह जलजला कम महत्त्वपूर्ण है ? यह सब कुछ एक सम्मोहन की अवस्था में हो गया। तब से सोच रहा हूँ, यदि इस पद्धति का व्यापक प्रयोग किया जाय तो किस सोये हुए व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को नहीं जगाया जा सकता ? साधन ? उनके पास साधन कुछ नहीं। कोई यंत्र, मन्त्र और तन्त्र नहीं। केवल निश्छल प्रेम है, समाज के प्रति सत्य निष्ठा है और मानवता के प्रति भक्ति है। सर्वोपरि ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास और आस्था है। ईश्वर उनकी सदैव मदद करता है और इसलिए वे अपने सभी कार्यों में ईश्वरीय इंगित का भरोसा करते हैं। लापरवाह तो केवल उनकी मेरे लिए की गई परवाह के कारण प्रभावित हुआ और फिर तो संस्कारों पर संस्कारों की लम्बी परम्परा चलती रही। जागने पर देखा, सब कुछ बदल गया है, केवल लक्ष्य और उसकी मंजिल वही है।

मेरी कहानी इस मंजिल पर चलने की कहानी है। कितने चढ़ाव और उतार आए। कितने पसीना सुखाने और विश्राम के सुख का स्वाद लेने के लिए ठहर गए, कितने ही बहाने बना कर लड़ने लगे, कितने ही पंछी डाल पर बैठे और कितने ही उड़ गए, पर अभी तक डाल वही है, वृक्ष वही है, धरती वही है और यह लापरवाह भी वही है। इस जलजले के बाद ही मेरी कहानी शुरू होती है और आगे के प्रकरणों में उन सब संस्मरणों का चित्रण करूंगा, जिन्होंने मेरे जीवन में गहरा प्रभाव छोड़ा है।

मेरी पहली मंजिल हंसी खुशी की मंजिल थी। सभी से मुझे बड़ा प्यार मिलता रहा। मैं भी उन्हें और उनकी विचार पद्धति को चाहता रहा। मेरे कानों के पर्दों पर उनके सुख मय प्रहार चलते रहे और जब मैं भी उन्हीं के स्वर में बोलने लगा तब उन्होंने समझा अब मैं यन्त्र बन गया हूँ। चारों ओर

का जीवन फूलों से छाया हुआ था। आकाश में ऊंची उड़ाने भरता था। कल्पनाओं के सुन्दर पंखों के सहारे अनेक क्षेत्रों को खोज डाला। मेरी आँखों के सामने आज भी अनेक चित्र तैरने लगे। एक चित्र ऐसा है, जिसने मेरी स्मृति में अपना स्थायी स्थान बना लिया है।

वह चित्र था मनुष्य की सामाजिक शक्ति का। वह शक्ति स्वरूपिणी होकर भी क्षत विक्षत हो चुकी थी। उसकी समस्त श्री खर्च कर दी गई थी। दैन्य की विवशता उसकी आँखों में झलक रही थी। वह अपने खोये हुए सामर्थ्य को प्राप्त करना चाहती थी, लेकिन वह सामर्थ्य उपलब्ध हो कहां से? दुनिया जिस समय घोर निद्रा में व्यस्त रहती है, उस समय वह भटका करती। घर–घर और द्वार–द्वार जाकर व्यक्ति–व्यक्ति को टटोला करती। समूचा मानव समुदाय सोता हुआ पा रही थी। कुछ जागने वाले, उस समय भोग और नृत्य–सुख में तल्लीन थे। उनके आलीशान निवासों में इतनी चमक दमक थी, कि उस दीन–हीन फटे पुराने वस्त्रों में लिपटी हुई सामाजिक शक्ति को प्रवेश तक नहीं दिया जाता था। उनसे वह क्या मांगती। इसी प्रकार वह भटकती रही जंगल–जंगल में।

ढलती हुई रात को एक स्थान पर अन्धेरे में कुछ आकृतियां उसे दिखाई दी। शायद चोर डाकू हों। उत्सुकता वश नेपथ्य में खड़ी होकर वह उन्हें देखने लगी। बड़ी धीमी आवाज में कोई गुनगुनाहट चल रही थी। शेष समस्त आकृतियाँ पत्थरों की भांति मूक और निश्चल थी। गौर से शक्ति ने देखा, वे तो साधक हैं, कोई साधना कर रहे हैं। शायद तन्त्र साधना हो। आव देखा न ताव, जागृत तन्त्र सी प्रकट हो गई वह उनके बीच और कहने लगी–बहुत ढूंढने के बाद तुम्हीं मिले हो। दो, मुझे जो दे सकते हो, दो। मुझे अपने फटे हाल से मुक्ति पानी है। वे प्रस्तर मूर्तियाँ भी जागृत थी, बोली, जो लेना चाहो सो लो, तुमसे हमारा कुछ भी छिपा नहीं है।

चित्र मेरी आँखों में आकर स्थिर हो गया। मैं इतना ध्यानस्थ हो गया, कि मुझे कभी तो प्रतीत होता है, कि उक्त चित्र का चित्रकार मैं ही हूँ, कभी लगता है वह सामाजिक शक्ति मैं हूँ, कभी लगता है वह दृश्य या चित्र ही मैं हूँ अथवा उन साधकों में से एक हूँ। स्थिति यहां तक पहुँच गई कि वे सब सत्य हैं और मैं क्या हूँ ? मैंने अपने आपको वहां भुलाया अथवा पाया कुछ नहीं कह सकता, लेकिन यह निश्चित ही है, कि मेरे जलजले पर उस दिन अन्तिम छाप लग गई।

कितनी ही कल्पनाओं में मैं उड़ता गया, मंजिल पर बढ़ता गया। मेरी यात्रा एक कहानी बन गई, लेकिन मंजिल अभी चल रही है, जीवन की धारा अभी चल रही है बस अपने संस्मरण शुरू करूँगा, वे क्रमबद्ध तो नहीं हो सकेंगे,किन्तु हाँ जैसे जैसे याद आता जायेगा, लिखता जाऊँगा।

प्रकरण : तीन

नौकरी की खोज

पढ़ लिख कर काबिल बन गया मैं। लेकिन किस काबिल ? कमाने के काबिल। अब धन जमा होगा। उस श्री से सम्पन्न होऊंगा, जो मुझे मिली नहीं थी। काम तो कभी अभाव में रुका नहीं, पर कमी खटकती ही रहती थी। वह दिन मुझे अच्छी तरह याद है, जब गांठ में कुछ था नहीं और जाना किसी स्थान पर था। सभी लोग साथ थे। पैसे न होने से रेल का टिकट लिया नहीं। टी.टी. के भय से चैन नहीं था। कुछ लोग मगन होकर सहगायन गा रहे थे और मेरा ध्यान उसके अर्थ और राग पर नहीं था। लापरवाह जो ठहरा। उस समय मुझे अपनी ही परवाह थी। सोच रहा था, कहीं टिकट चैक करने वाला न आ जाय। नींद इसीलिए नहीं ले सका। हर समय चौंकता रहा। रात निकल गई आँखों में, कभी इस डिब्बे में और कभी उस डिब्बे में। अभी दिन उगा नहीं था। लेकिन गाड़ी बदलनी थी। सहसा टी.टी. आ गया। वास्तव में वह बहम ही था। लेकिन पकड़े जाने का भय कभी आपने अनुभव नहीं किया होगा,क्योंकि आप तो सभी टिकट लेकर सफर करने वाले हो। तो मैं भय से भागने लगा। टी.टी. के सिवाय कुछ दिखाई ही नहीं दे रहा था। वैसे अन्धेरा भी था। लाइन के सहारे सहारे भागा जा रहा था। पीछे वाले बिखर गए। अन्धेरे में मैं। सिगनल के तारों में उलझ गया और डगमगाता एक गटर में गिर गया। गन्दा तो पानी था, मगर गन्दगी से कहीं अधिक ठंडा था। घबड़ा कर बाहर निकला। टी.टी. नहीं था। अब मैं अपने आपको देखने लगा। वापिस साथियों के पास जाऊंगा तो वे क्या कहेंगे ? मजाक उड़ेगी, पर कोई चारा नहीं था।

वही फजीती हुई, जो होनी थी। सभी ठहाके मारने लगे। मुझे लगा यदि पैसे होते तो भला इस तरह दुर्गति होती ? फिर पकड़ा जाता तो दुर्गति कहीं अधिक होती। लेकिन क्या करें ? पैसा तो माता पिता से सीमित ही मिलता था। उसमें से बचाकर इन कार्यों के लिए खर्च करना पड़ता था। हाथ सदैव तंग रहता था, मगर मैं अब पढ़ लिखकर डिग्री हासिल कर चुका था और नौकरी की तैयारी में था। सही अर्थों में लक्ष्मी के आगमन और उसके स्वागत की तैयारी में था।

रुपयों के आगमन के साथ कल्पनाएँ भी उड़ने लगी। रुपया आयेगा, तो उसे समाज के लिए ही अधिक खर्च करूँगा। बड़ी–बड़ी योजनाओं में उस पैसे को लगाऊँगा ताकि मेरे कितने ही साथी उससे मजदूरी पा सकें और हमारे सामाजिक धन की वृद्धि हो। मुझ से कुछ पूर्व मार्गी पैसा कमाने वाले थे, मगर उनकी बातें मुझे पसन्द नहीं थी। वे रुपया तो हजारों में कमाते थे, मगर उसका समाज को कोई लाभ नहीं था। मैंने विचार कर रखा था, उनसे विलक्षण होगा मेरा पैसा कमाना और मैं सबसे अधिक समाज के लिए काम कर सकूंगा।

एक बार तकदीर मेरी ओर झुकी थी। बिना डिग्री हासिल किए ही विपुल सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनने वाला था। एक अत्यन्त धनी व्यक्ति मुझे गोद लेने वाला था। चारों ओर मुझे बधाइयाँ मिलने लगी। जबान से तो मैं कहा करता था, कि नहीं मुझे गोद नहीं लिया जायेगा, पर मन ही मन मधुर कल्पनाओं में डूबा हुआ था। बड़ा आदमी बनूंगा, लेकिन सभी के साथ वैसा ही बना रहूंगा, जैसा अब हूँ। वैसे ही मिलता रहूंगा। लोगों को दिखा दूंगा, कि धनवान होकर भी आदमी को कैसा होना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्य की बात है, कि मेरी उन सुन्दर कल्पनाओं पर पानी फिर गया। उसने किसी और को गोद ले लिया और मैं कल्पनाओं के मधुर बिछौनों से हकीकत की कठोर चट्टानों पर खड़ा रह गया। इस हकीकत को देखकर मैंने निश्चित किया था, कि जब तक कमाने नहीं लगूँगा, विवाह नहीं करूंगा। घर वालों को सख्त इच्छा बता दी।

लड़कियों वाले पढ़े लिखों की फिराक में थे ही। रोज मेरे चारों ओर चक्कर लगाते। कुछ मेरा इन्टरव्यू लेते और मैं जानबूझ कर उन्हें ऊट पटांग जवाब दिया करता था। मुझे ऐसे खोज करने वालों से बड़ी कोफ्त होती और उनसे छुटकारा पाकर ही चैन की सांस लेता था लेकिन फँसाने वालों ने बुरा फँसाया। उन्होंने मेरा कोई इन्टरव्यू नहीं लिया और घर वालों से बाले–बाले बातें शुरू कर दी। रुपये का आकर्षण बहुत बड़ा आकर्षण होता है और घर वाले हाँ कर बैठे। टीके के लिए रुपया भी खूब आया मगर मैं जानता था, इसमें से मुझे कुछ नहीं मिलेगा। फिर मैं वह प्रथा अच्छी नहीं मानता था, लेकिन घर वालों के कारण चुप्पी मार गया।

इस बार जो रुपया आने वाला है, वह मेरी खरी कमाई का होगा, धन के समुद्र में तैरने लगूंगा। बस यही कल्पनाएं थी। लेकिन कोशिश करने के बावजूद भी मुझे वह नौकरी हाथ नहीं लगी, जिसे मैं चाहता था। सोचा कुछ

कोर्स और कर लूँ, तो और अधिक अच्छी नौकरी लगेगी। वह भी कालान्तर में पास करली और अब मैं पूर्ण रूप से नौकरी के लिए तैयार था और नौकरी मेरे लिए तैयार थी।

एक बुलावा भी आया। उन दिनों गांव में छुट्टियाँ मना रहा था। खबर आई तुम यहां बैठे हो, तुम्हारे लिए नौकरी का बुलावा आया हुआ पड़ा है। मैं भागा–भागा वहां गया। पत्र को पढ़ा और मालूम हुआ, कि नौकरी देश के एक कोने में होगी और मैं कुछ नहीं कर सकूंगा, अपने समाज के लिए। इससे पहले फौज में भर्ती होने का तकाजा था। उनका मन राजी रखने के लिए गया भी, लेकिन इन्टरव्यू में अपनी पूरी लापरवाही बताई। ऊट पटांग जवाब दिया। शिफारिसें चाहे कितनी हों लेकिन केवल उन्हीं के बल पर कोई फौज में कैसे लेता ? वहाँ से अयोग्य घोषित हो गया। खुशी थी, कि चलो छुट्टी हुई, अब तो यहीं कहीं पास में ही नौकरी करूंगा, लेकिन यह नौकरी तो 600–700 मील दूर थी। क्या करूँ और क्या न करूँ बड़ी समस्या हो गई। लापरवाह आदत तो थी ही और चल पड़ा रेल पकड़ने। रात भर एक सोसियलिस्ट से पाला पड़ गया। मनहूस ने नींद तो खराब की ही, मगर बातों में दिमाग चाट गया। मुझे उन लोगों से बड़ी झुंझलाहट होती है, जो मेरी बात नहीं मानते। अपने साधनागत कार्य में भी जो लोग विरोध करते हैं, उनके प्रति झुंझलाहट होती है। दो एक तो मेरे परम मित्र थे, मगर ज्योंही उन्होंने मेरे सत्य पथ का विरोध किया, वे मुझे घास के तिनके के समान लगे। उन परम मित्रों से मैंने हमेशा के लिए सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था। मुझे बहसबाजी बिल्कुल नापसन्द है, लेकिन वह सिरफिरा नेता सारी यात्रा में बकता ही गया।

सुबह हारा थका ट्रेन से उतरा। इरादा था, कि समीप ही आने वाले एक सम्मेलन में भाग नहीं लिया जा सकेगा अतः लेट आने की स्वीकृति लेनी चाहिए। आनन–फानन कागज लिख दिया। लेकिन सहसा महसूस हुआ, कि मैं बहुत दूर जा रहा हूं। नौकरी नहीं यह तो फिसलन है, जो मुझे अपना जो कुछ है उससे दूर ले जाना चाहती है। अनमने मन से आगे का टिकट खरीदा, लेकिन विचार चलते रहे। नौकरी तो पेट भरने के लिए होती है, वह तो कहीं भी मिल सकती है, फिर वहीं क्यों जाऊँ। इतना दूर। सम्पर्क टूट जायेगा। सक्रिय रूप से अपने लक्ष्य पूर्ति के यज्ञ में कोई भी आहुति नहीं दे सकूंगा। सहसा मेरा सोया हुआ लापरवाह फिर जाग उठा और उसने कहा मारो गोली और लौट चलो।

और मैने नौकरी के सचमुच गोली मार दी। घर वाले जरूर कहेंगे, गया क्यों नहीं? जवाब क्या दूंगा, देखा जायगा। वे कहेंगे, कि मैं बड़ा लापरवाह हूँ तो वे नई बात तो कुछ कहेंगे नहीं। लापरवाह तो मैं हूं ही। लेकिन घर जाने से पहले मैं अपने एक परम मित्र के यहां गया। कुछ और मित्र भी वहाँ थे। जाते ही बड़ी प्रसन्नता और आश्चर्य से मेरा स्वागत किया गया। कुशल क्षेम के बाद पूछा, कैसे आना हुआ आज ? मैंने कहा इन्टरव्यू में जाने के लिए रवाना हुआ था। उन्होंने पूछा,इन्टरव्यू हो चुका या अब होगा ? मैं क्या कहता? यही कि वापिस जा रहा हूं। वे हँसने लगे, तो फिर रवाना ही क्यों हुए, जब तुम्हें जाना ही नहीं था। सब बातों का जवाब है, लेकिन मेरी लापरवाही लाजवाब है और इसलिए मेरे मित्र भी मजाकों में लग गए।

अब मुझे चिन्ता हुई नौकरी वालों को क्या लिखूँ, कि नौकरी के लिए क्यों नहीं आ सका और घर वालों को क्या बताऊंगा, कि बीच में से ही वापिस क्यों आ गए। लेकिन बन्दे ने चिन्ता की कभी चिन्ता नहीं की। जो कुछ होगा ठीक होगा, यह मूल मन्त्र था, फिर जबर्दस्ती किसी बात का समय से पहले फिकर करना, मुझे नहीं सुहाता। मैं लापरवाह हूँ, लेकिन अब भी एक बात की परवाह नहीं छोड़ सका। नौकरी का अवसर छोड़ दिया, लेकिन अपने लक्ष्य के प्रत्येक अवसर को छोड़ना नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ, नौकरी आए तो मेरे घर पर आए, लेकिन उसके पीछे–पीछे अपना वतन और स्थान नहीं छोड़ सकता।

इसी तरह कई नौकरियां चक्कर काटती रही और मैं सदा की भांति बाल–बाल बचता गया। बचकर भी करूंगा क्या, यह समझ में नहीं आ रहा था, मगर क्या करता। यदि पाठकों में से किसी ने कभी कोई नशा पता किया है, तो उन्हें मालूम होगा, कि नशे के समय कैसी आनन्दमय स्थिति होती है और उससे दूर जाने की कत्तई इच्छा नहीं होती। उसी प्रकार मैंने भी एक नशा चढ़ा रखा है। एक ऐसा मधुर नशा, जो पिये बिना रहा नहीं जाता। जीवन की वास्तविकताओं का तकाजा कुछ और है, मुझे कमाना ही पड़ेगा, लेकिन जीवन के इस नशे की बात कुछ और है। यह नशा मेरी रग–रग में छाया हुआ है। चाह कर भी भाग नहीं सकता इससे। वास्तविकताओं के लिए भी मैं तैयार हूँ, कमाऊँगा भी, उसके लिए भी मैं तैयार हूँ कामचोरी मुझे नहीं सुहाती, लेकिन इस नशे से दूर नहीं जा सकता।

मैंने दुनिया को ऊपर उठाने का ठेका नहीं लिया है, मेरे ऊपर परमार्थ करने का कोई उत्तरदायित्व भी नहीं है। साथियों की ओर से काम काज और

जीविका का मार्ग ढूँढने की पूरी छूट है, लेकिन मेरा आकर्षण इस ओर विकट है। लोग इसे परमार्थ का काम मानते होंगे, लेकिन मैं समाज पर उपकार करने के लिए कोई काम नहीं करता। राष्ट्र के लिए कोई प्राण का त्याग केवल इसलिए करे कि राष्ट्र आज भूखा, नंगा और अरक्षित है और इसलिए मेरे जीवन से उसका हित हो सकता है, ऐसे त्याग को मैं राष्ट्र का अपमान मानता हूं। समाज की सेवा के सम्बन्ध में भी मेरा ऐसा ही ख्याल है। मैं समाज की सेवा के लिए इच्छुक इसलिए नहीं हूँ, कि समाज को मेरी जरूरत है और मैं उस जरूरत को पूरा कर सकता हूँ, या यह समाज दीन हीन है और मैं उस पर कृपा कर रहा हूँ। मैं समाज को आराध्य मानता हूँ और इसीलिए उस पर उपकार की भावना से नहीं, उसकी सेवा की भावना से आराधना करता हूँ। वह मेरा उपास्य है। मेरे प्राणों की हलचल का स्वामी है। अपने आराध्य के प्रति जो भाव किसी श्रद्धालु में होता है, वही भक्ति मेरी साधना का मूल मन्त्र है।

इसीलिए मेरे ऊपर ही दुनिया को ऊँचा उठाने का ठेका नहीं है, न मुझे कोई यह पूछने वाला, कि तुमने उसके लिए अब तक क्या किया और क्या नहीं किया ? यह तो लापरवाह का अन्तःकरण ही है, जो भक्ति भावना से ओत प्रोत हो गया है और इसीलिए अपने आराध्य के प्रति भक्ति प्रदर्शित करता हूँ। अर्चना से महरूम रह जाऊँ, तो मुझे इस जीवन में कोई आराध्य नहीं दिखाई देता, जिसके लिए इस अमूल्य जीवन को बनाए रखूं।

मैं इसीलिए कोई अनुकूल नौकरी की तलाश में हूँ। बहुत से विज्ञापन पढ़े, लेकिन जंची नहीं। कुछ लोग जो मेरी भावना की मजाक उड़ाते हैं, कहते हैं, इस ढंग से तो नौकरी के सपने ही आयेंगे, लेकिन मुझे विश्वास है, कि अपने विश्वास के लिए थोड़ी सी कीमत तो मुझे चुकानी पड़ेगी, लेकिन जहां चाह है, वहां राह भी निकल आयेगी। जो लोग मेरी इस भावना का मजाक उड़ाते हैं, मैं उनके प्रति लापरवाह हूँ। क्योंकि वे लोग स्वयं अपने ध्येय के प्रति लापरवाह हैं और लापरवाह के साथ लापरवाही करना ही उसका यथेष्ट आदर करना है। आप कोई नौकरी दिला सकें, तो बड़ी मेहरबानी होगी, क्योंकि अब मेरी शादी होने वाली है और उससे पहले हर हालत में कमाऊ पूत बन जाना चाहता हूँ। लापरवाह हूँ, मगर हर जगह लापरवाही नहीं चल सकती। यदि आप मेरे प्रति लापरवाह हैं, तो मुझे आपके प्रति लापरवाह होने का पूरा हक है, किन्तु जो आज भी मेरे लिए चिन्तित हैं, उनसे पृथक होना तो दूर, उनके सहयोग के लिए यह पूरा जीवन दे चुका हूँ। लापरवाह को भी अपना सत्य संकल्प सदैव याद रहता है।

प्रकरण : चार

नियमों की दासता

अनेक बार लोग मुझे यह पूछते हैं कि आखिर तुम्हारी इस बेफिक्री का रहस्य क्या है ? मैं उन्हें यही शिक्षा देता हूँ, कि तुम कभी लापरवाह होकर देखो। यह बेफिक्री भी बड़ी साधना के बाद हासिल होती है। किसी की परवाह न करना एक बात है और अपनी परवाह न करना एक और बात है। मैंने अपने जीवन में यही देखा है, कि यदि हम हमारी परवाह न करेंगे तो सबकी परवाह करने वाला हमारी परवाह करेगा। लेकिन जब हम ही हमारी परवाह के अन्दर इतने तल्लीन हो जाते हैं, उसका परिणाम यह होता है, कि हमारी फिक्र करने वाला हमारे लिए बेफिक्र हो जाता है। इस बेफिक्री के कुछ आवश्यक परिणाम भी होते हैं।

सुना है, कि एक बार भगवान विष्णु सत्यलोक में लक्ष्मी के पास बैठे हुए आराम कर रहे थे, कि अचानक दौड़ पड़े। थोड़ी देर बाद दरवाजे से बाहर होते ही लौट आए। लक्ष्मी ने पूछा कि इतनी शीघ्रता से आप गए भी और वापिस भी आए इसका कारण क्या है। विष्णु ने कहा–''मृत्युलोक में मेरा एक भक्त मेरे स्मरण में इतना तल्लीन होकर जा रहा था, कि उसको ध्यान नहीं रहा कि उसके पैर धोबियों के ताजे धुले कपड़ों पर पड़ रहे थे। धोबियों ने क्रोधित हो मेरे भक्त पर आक्रमण कर दिया। उसकी रक्षा के लिए मुझे यहां से यकायक दौड़ना पड़ा।''

''लेकिन इतनी शीघ्रता से वापिस कैसे पधार गए ? '' विष्णु बोले–''मैं उसकी सहायता के लिए इसलिए दौड़ा कि उसका कोई सहायक नहीं था। लेकिन धोबियों के मुकाबले में उसने थोड़ी ही देर बाद पत्थर उठा लिया था। अब वह स्वयं अपनी फिक्र करने लग चुका था अतः मैं भी निश्चिन्त होकर वापिस लौट आया।''

बेफिक्री में आराम होता है और आराम मिलने के कारण स्थूल रूप में यह देह बढ़ने लगती है। दुर्भाग्य से मेरी देह ऊंचाई में इतनी नहीं बढ़ी जितनी चौड़ाई में बढ़ी है। संभवतः यह परम्परागत अथवा वंशानुगत विशेषता का ही कारण हो, लेकिन मेरी चौड़ाई का घेरा बढ़ता ही जा रहा है। मोटे होने का कोई भौतिक कारण भी नहीं दिखाई देता। जीवन यापन के लिए मुझे कोई बहुत बड़ी रकम नहीं मिलती। मामूली साधनों से ही निर्वाह किया करता हूँ।

यह लापरवाह अपने लिए केवल इतनी ही परवाह करता है कि वह लापरवाही न छोड़ दे अन्यथा उसे न जाने अपनी कितनी ही चिन्ताओं के बोझ से दबकर मर जाना पड़ेगा। यह लापरवाह तो ऐसे समय में हमेशा यही उत्तर दिया करता है, कि गुरुजी ने यही शिक्षा दी है, कि आराम तो एक मिनट का ही अच्छा। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं है, कि मैं हर मामले में आराम करता हूँ। मेरी बेफिक्री हर मामले में मर्यादा रहित नहीं है। जहां तक काम करने का सवाल है, मैं लापरवाह होकर भी एक उत्तरदायी लापरवाह हूँ और इसलिए काम के अन्दर मैंने कभी ढील नहीं की। जब कभी मुझे साधनागत किसी उत्तरदायित्व को सौंपा जाता, मैं उसके लिए दिन रात प्रयत्न करता था। मेरे गत जीवन के जानकारों से यह पूछा जा सकता है, कि वर्ष में कितनी ऐसी रातें होगी जिसमें आधी–आधी रात तक मैं अपने कार्य में रत नहीं रहा। उन दिनों पारस्परिक सम्पर्क के लिए दिन भर पहाड़ों में और तालाबों के किनारे झख मारने भी भटकना पड़ता,तो खुशी–खुशी से भटका करता था। अपने पसीने की एक बूंद भी अपने उत्तरदायित्व से छिपा कर नहीं रखी। मैं आराम के लिए भी उतना ही लापरवाह था और चिंता के लिए भी मैं उतना ही लापरवाह।

पंछी ने जब कभी भी मौका अपने हाथ लिया, हमेशा यहां के नियमों के सम्बन्ध में बड़ी कटु आलोचना की। उसने इन नियमों को एक दृष्टिकोण से देखा है, लेकिन मैं उन नियमों का दूसरे ही दृष्टिकोण से मूल्यांकन करता हूँ। मेरे विचार में यहाँ के नियम ऐसे नियम नहीं हैं, जो लोगों को गुलाम बनाएं। वे तो व्यवस्था में चलाने की एक व्यापक योजना है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि यहाँ के नियम बड़े ही कड़े हैं। नियमों के संयम में बांधकर मानव जीवन को ले चलना कम बधाई की बात नहीं। विशेषतः यह कहा जाय कि नियमों की सुव्यवस्था के कारण ही मानव विकास ठीक प्रकार से सम्भव है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पंछी ने बहुत बार नियमों में अपवाद भी बताए हैं और कहा है, कि उन नियमों को तोड़ने का मुख्याधिकारी को अबाध अधिकार है। यह उसका एकांगीण दृष्टिकोण है। नियम जो कुछ भी हैं, जहां तक उन्हें तोड़ने का प्रश्न है, यह किसी एक व्यक्ति को पूरा अधिकार नहीं है बल्कि यहां के प्रत्येक व्यक्ति को नियम तोड़ने का अधिकार है। संभवतः आपको आश्चर्य होगा, कि इतने कड़े नियम होकर भी उन्हें तोड़ने का अधिकार कैसे दिया गया है ? सच यह है, कि नियम मात्र यहां के साधन हैं और उनका मूल उद्देश्य मानव सेवा है।

एक बार की घटना का मैं वर्णन करूँगा, कि प्रार्थना के लिए विशल बज चुकी थी और मेरा एक साथी अनायास बेहोश हो गया। यदि मैं नियमों का

गुलाम होता तो उस साथी की उपेक्षा कर यंत्र के समान चलता हुआ प्रार्थना की पंक्ति में शामिल हो जाता, लेकिन मैंने उस समय विशल की कोई परवाह नहीं की और मैं उस साथी की सेवा सुश्रूषा में जुट गया। प्रार्थना के बाद सब लोग मेरे पास आए तो पंछी जैसे तो ऐसे लोग थे, जिन्होंने मेरी अनुपस्थिति का रोष प्रगट किया, किन्तु जिनसे मैं सहृदयता सदैव लेता आ रहा हूँ और जिनके ऊपर इस क्रिया कलाप की जिम्मेवारी है, उन्होंने सहृदयता पूर्वक मेरे इस कृत्य की बधाई दी। बल्कि उन्होंने तो मेरे घट प्रमुख को उलाहना दी, कि यह उसका काम था, कि वह ऐसी परिस्थिति में अपना कर्तव्य समझकर पीछे रहने वालों की सेवा में लगे और घट प्रमुख ऐसा नहीं करता तब जो पीछे रहा हो उसी को ऐसा करना बहुत अच्छा है। उनकी बधाई चाहे मौन स्वरूप ही हो, मेरे लिए तो वह स्पष्टीकरण ही था, कि जिस उद्देश्य के लिए नियमों की रचना हुई है, उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही नियम काम करें। अन्यथा उद्देश्य एक तरफ रहकर नियम ही उद्देश्य बन जाते हैं। ऐसी परिस्थिति जिस किसी देश,समाज या राष्ट्र में होगी, वहां प्रतीक पूजा और साथ ही यांत्रिकता इतनी बढ़ जायेगी कि लोग उद्देश्य को भूलकर पाखण्ड और प्रपंच में ही अपने प्रदर्शन की चेष्टा करते रहेंगे।

जब से मैंने नियमों के सम्बन्ध में इस रहस्य का पता लगाया है, तब से मेरे जीवन में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन आया है। मैंने अपने आपको मानव सेवा में निशेषः रूप से खपा दिया। आज मैं देखता हूँ कि उस सेवा के बदले चाहे मुझे कुछ भी न मिले लेकिन मुझे एक महान सन्तोष मिलता है। मानव जीवन की ईश्वर की दी हुई एक महान देन से साक्षात्कार होता है। यह देन सन्तोष है। जिसके पास सन्तोष है, वह विकसित होगा ही क्योंकि ठोकर के समय भी वह समत्व भाव को नहीं छोड़ेगा। यदि मेरा स्थूल देह बढ़ता है, तो इसी सन्तोष के कारण। फिर भी देह ही बढ़ रहा हो ऐसा नहीं है, विचारों के अन्दर भी इतनी वृद्धि हो रही है। वे सूक्ष्मतापूर्वक विकसित होते जा रहे हैं किन्तु स्थूल देह के मापदण्ड होते हुए भी विचारों की सूक्ष्मता को नापने का अभी तक कोई यन्त्र नहीं चला है और इसीलिए कोई मेरे उन विकसित विचारों को न देखकर देह को ही देखा करता है।

मेरी मानव सेवा की इस तत्परता के कारण कई बार लोगों को मेरी रुचि अनायास ही खटक जाती है। कुछ लोग जो स्वभावतः ही आराम तलब होते हैं, अपने उत्तरदायित्व से बचने की चेष्टा करते हैं। मेरे गुरु की शिक्षा कि... 'आराम तो एक घड़ी का भी अच्छा' का नाजायज अर्थ लगाकर नाजायज लाभ उठाते हैं। वे मेरी चेष्टाओं को देखकर मुझ पर व्यंग किया करते हैं। मुझे इसके कारण ही कई बार लोगों से कानाफूसी करते हुए सुनने में आया

है, कि मैं उनके द्वारा 'धाय मां' की उपाधि से विभूषित हो गया हूँ। वे चाहे इस शब्द का कितना ही व्यंगात्मक स्वरूप देखें, मैं उसे एक बधाई का रूप ही लेता हूँ। क्योंकि मां दूध पिला कर अपने शिशुओं का विकास करती है, यहां 'धाय मां' शिक्षक के रूप में अपने साथियों का स्तनों के दूध से नहीं, हृदय के रक्त से पोषण करती है। इस सेवा को लोग पक्षपात भी कह सकते हैं, लेकिन मैं आरोपों की अपेक्षा अपने कर्तव्य को ही अधिक महत्त्व देता आया हूँ। इसी कर्तव्य का परिणाम है, कि मैंने अनेक लोगों को हृदय के अन्दर स्थान दिया है। फलस्वरूप अनेक लोगों के हृदय में भी इसी प्रकार स्थान पा सका हूँ। यह परस्पर एक दूसरे के भीतर रहने की कला वास्तव में एकता का प्रारम्भिक काल है।

अपने सम्बन्ध में तो मैं सदैव लापरवाह रहा हूँ, लेकिन जब कभी भी दूसरे की सेवा करने का अवसर आया, मैंने परायणता से सेवा की है। इसी कारण यदि लोग मुझे 'धाय मां' कहें तो मुझे खुशी ही होगी। ऐसी सभी आलोचनाओं के प्रति लापरवाह ही हूँ और लापरवाह ही रहूँगा। परवाह तो केवल उस मानव की किया करता हूँ, जिसकी सेवा करता हूँ, जिसकी सेवा करने का काम मेरा महान उद्देश्य है। जिसमें मेरे ईश्वर अनेक रूपों में अभिव्यक्त होते हैं और इसीलिए अपने आराध्य की सेवा मैं पूर्ण तत्परता से और परायणता से किया करता हूँ। यदि इसका नाम प्रेम कहा जाय, तो मुझे इसमें कोई लज्जा नहीं होगी। मैं तो अपने किसी भी व्यक्ति, जिसकी सेवा करता हूँ, उसके विरुद्ध प्रत्येक व्यक्ति को अपने विरुद्ध मानता हूं। हो सकता है, इसमें कुछ अनुदारता उन लोगों को दिखाई दे, जो अपने आपको इस जीवन में किसी खूंटे से नहीं बांध सके हों। उनका सारा जीवन एक अमर्यादित,सर्वतन्त्र स्वतन्त्र और तुच्छ भोगों से भरा संयमरहित जीवन है। मेरे विचार में जीवन वह बेलगाम दौड़ नहीं है, उस पर संयम होना चाहिए और अपने आपको किसी न किसी उद्देश्य,मार्ग अथवा नियम से बांध लेना चाहिए। भावनाओं के सम्बन्ध में पंछी ने बहुत बड़ा साहित्य रच डाला है किन्तु मेरा यही दावा है, कि किसी की 'धाय माँ' बनना आसान है तो कोई भी बनकर देखे। यदि किसी को जीवन देना इतना आसान है तो कोई देकर देखे। यदि किसी की सेवा करना इतना आसान है, तो कोई करके देखे।

आलोचक इस बात को भूल जाते हैं, कि भावनाओं का एक पक्ष और भी है और वह है, नियमों के अन्दर भी अपने आपको इसी प्रकार खपा देना जिस प्रकार वे मानव सेवा में खपाते हैं। जहां मानव सेवा का कोई प्रश्न नहीं हो, वहां पर नियमों में अपने आपको बांधना इतना ही आवश्यक है,जितना होना

चाहिए। इसीलिए यदि अन्य किसी संयम में मेरी आराम करने की स्थिति को छोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हो, तो मैं तत्काल उसे बिना हिचक छोड़ देता हूँ। उस समय मैं अपने आपको उन नियमों में तल्लीन कर देता हूँ, चाहे उन नियमों का कोई हेतु बिलकुल ही समझ में न आए। मेरा सहयोगी जो मेरा हित चिन्तन करता है और जहाँ मेरी बुद्धि काम नहीं करती वहाँ मुझे इस श्रद्धा के साथ चलना पड़ता है कि उसकी बुद्धि मेरे हित में काम कर रही है। शायद मेरे जीवन में कभी भी ऐसा अवसर नहीं आया, जब उसकी और मेरी बुद्धि की परस्पर टक्कर हो गई हो। मैं सदैव अपनी बुद्धि को दासी बनाकर रखता हूँ, केवल उसी जगह प्रयोग करता हूँ, जहाँ उस सहयोगी की ओर से कहीं मुझे कोई निश्चित आदेश दूसरी ओर न दिखाई देता हो। जिसमें सामूहिक बुद्धि का आरोपण कर दिया गया है, उसके प्रति मैंने अपनी बुद्धि को सदैव आधीन किया है। यदि लोग मुझे अपनी बुद्धि की इस आधीनता के कारण भी 'धाय माँ' कहते हों, तब भी मुझे कोई एतराज नहीं।

'धाय माँ' बन कर भी लापरवाह ने किसी का कुछ लिया तो नहीं। यदि लापरवाह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए जन–जन को विश्वास देता है तो क्या बुरा किया। दीपक की भाँति तिल–तिल जलने की साधना की इस कहानी के पात्र कोई हों, लेकिन पंछी जैसे लोग उपरोक्त कहानी का शीर्षक भी नहीं दे सकते। जिन्होंने अपने जीवन में देना तो दूर रहा, देने वालों को सदा व्यंग की दृष्टि से देखा और उनका उपहास किया, उन्हें उनका ईश्वर भी क्षमा नहीं कर सकता। वे जिन नपे तुले शब्दों में दुनिया के सम्बन्धों को तोलने की चेष्टा करते हैं, उनके दुर्भाग्य से दुनिया इतनी छोटी नहीं कि उनके सर्वथा आधीन हो जाय। दुनिया पर हुकूमत उन्हीं की चलती है, जो दुनिया की हुकूमत सहन ही नहीं करते बल्कि उसको प्रेमपूर्वक धारण करते हैं, शेष पंछी जैसे लोगों को दूसरों से हमेशा यही शिकायत रहती है, कि उनके साथ न्याय नहीं हो रहा है।

प्रकरण : पाँच

कर्तव्य और भावना

इस दुनिया में जिन्होंने अपना कोई कर्तव्य निश्चित नहीं किया है, वे पंछी की भांति केवल चहचहाना ही अपना पुरुषार्थ समझते हैं। उनकी नजरों में इस दुनिया में यथार्थता कुछ ही नहीं, कि जिसके लिए कभी भी आँसू,रक्त अथवा पसीना बहाया जाय। वे आँसू बहाने को ही नहीं बल्कि कर्तव्य के लिए किए गए प्रत्येक त्याग को भी थोथी भावुकता ही समझते हैं। ऐसी भावुकता को वे स्त्रियोचित निर्बलता की संज्ञा देते हैं। उन्हें यदि किसी आँख में आँसू बहता हुआ दिखाई देता है, तो उसे वे विवशता का ही आंसू कहा करते हैं। वे इस भरे पूरे जीवन को ही विवशता की संज्ञा देते हैं। इतने घोर निराशावादी यदि संसार में कुछ करने का दम भरते हों तो वह कितना हास्यास्पद है।

कर्तव्य एक ऐसी आग है, जिसमें हर व्यक्ति को अपना हृदय जलाना पड़ता है। वह ऐसी तरल निष्ठा है जिसके लिए वर्षों तक अपनी इच्छाओं और अनिच्छाओं को गौण बनाने की सतत साधना करनी पड़ती है। इस क्रिया में हाथ जलाने पड़ते हैं, आँख पिघलानी पड़ती है। इस तरल आग के साथ कर्मक्षेत्र में पागल होकर उतरना पड़ता है। कर्तव्य पालन के लिए यदि कहीं शिक्षा मिल सकती है, तो वह अंक गणित और अर्थशास्त्र की पुस्तकों में नहीं, हृदय की गम्भीर घाटियों में आँसुओं की बहती धार पर खड़े होकर मिल सकती है। कर्तव्य के लिए बहाया हुआ प्रत्येक आँसू पंछी जैसे लोगों की नजरों में भले ही भावुकता हो, किन्तु सारे संसार के अंक गणित व अर्थशास्त्र के ग्रन्थ मिल कर भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते कि एक पुत्र अपनी माता की सेवा क्यों करे ? एक देश भक्त अपने देश के लिए प्राणों का त्याग क्यों करे ? कर्तव्य का क्षेत्र व्यापार का क्षेत्र नहीं जहाँ अधिकारों के लिए अथवा उनकी प्राप्ति के लिए कर्तव्य किया जाता है। कर्तव्य और भावना को अलग अलग परिभाषाओं में समझाने वाले लोग कर्तव्य और भावना के प्रति न्याय नहीं करते । कर्तव्य पालन की प्रेरणा का स्रोत भावनाओं के क्षेत्र से उत्पन्न होता है और भावनाओं का प्रवाह हृदय से शुरू होकर आँखों के सहारे उतरता है। पंछी ने तो यहां इस स्थान पर आकर निश्छलता का दर्शन ही नहीं किया। उसे तो लगता है जैसे चारों ओर पाखण्ड का साम्राज्य छाया हुआ है किन्तु क्या यह सही नहीं है, कि हम अपने बाहर केवल उसी वस्तु का दर्शन करते हैं,जो हमारे भीतर रहती है। हमारी भीतर की अपवित्रता ही वास्तव में बाहर की अपवित्रता है और हमारी

भीतरी पवित्रता ही हमें संसार में पवित्रता का बोध कराती है।

पंछी ने एक बार कार्यक्रम की टीका टिप्पणी करते हुए उसे रुदन का कार्यक्रम कहा, लेकिन मैं उसे आँसुओं का महान यज्ञ समझता हूँ। पंछी ने जिसे स्वप्न कह कर पुकारा है, वही कर्तव्य की वास्तविक यथार्थता है। जो लोग सत्य को स्वप्न कह कर पुकारते हैं और इस प्रकार अपने उत्तरदायित्व से मुक्त होने का हास्यास्पद प्रयास करते हैं, वे अपने आपको धोखा देते हैं। उस का यह दावा, कि पहले वह नासमझ था और सम्मोहन की अवस्था में उसके मुँह में कुछ शब्द ठूंस दिय गये हैं इसलिए वह ऐसे किसी बन्धन को नहीं मानता– कितना निर्बल दावा है। क्या उत्तरदायित्व शब्द उच्चारण से ही अंगीकार किया जाता है ? क्या उसकी हमारे जीवन में कोई मांग नहीं है ?

लापरवाह यह मानता है, कि किसी को उसके वचनों में विवश करना अनुदारता है, किन्तु क्या अपने वचनों का अपने जीवन में कोई मूल्य नहीं है। हम चाहे उसके लिए कोई दावा नहीं करें लेकिन इससे तथ्य तो तथ्य ही रहेगा और उससे जीवन भर छुटकारा नहीं मिल सकता। ऐसे ही लोग होते हैं जिनके सहयोग के विश्वास में एक कर्मवीर अपने अनुमान से अधिक भार गले में लेकर दब मरता है। सहायता का वादा देकर उससे मुकरना वास्तव में किसी के खून से हाथ रंगना है। इसीलिए लापरवाह का यह कहना है, ब्रह्महत्या का प्रायश्चित हो सकता है, किन्तु विश्वासघात का नहीं। तुर्रा यह भी है, कि ऐसे ही लोगों के सहयोग की सावधानी पूर्वक गणना कर, सधी हुई गति से चलने को वही लोग अविश्वास और संशय का नाम दिया करते हैं। जब लापरवाह कर्मठ लोगों की इन परेशानियों को अनुभव करता है तब उसे हमेशा यही अनुभव होता है, कि जीवन में दिन थोड़े हैं और काम बहुत करना शेष है।

यहां का सम्मोहन किसी की शब्द कला का चातुर्य नहीं, यथार्थता का प्रभाव है। यहाँ जो गहरे रूप में प्रभावित होते हैं, उनकी आँखों में नारायण की व्यथा छलक आती है। पंछी जैसे लोग इस यथार्थता को अनदेखी कर मन ही मन मुस्कराया करते हैं, लेकिन वे भी इनकार नहीं कर सकते, कि यहां कोई ऐसी गहरी व्यथा दबी हुई है जो शताब्दियों बाद कर्म में रूपान्तरित होने के लिए पहली ही बार झलक कर प्रगट हुई। उस यथार्थता पर मन ही मन मुस्करा कर उन्होंने यह सिद्ध किया है, कि वे स्वयं अपनी ही बुद्धि के कलहों द्वारा छले गए हैं। भावना कोई ऊपरी लिबास नहीं, यह वह स्थान है, जहाँ आत्मा अंकुरित ही नहीं पल्लवित और पुष्पित होती है। जब वह प्रगट होती है, तो उसके सहारे मानव में ईश्वर की अभिव्यक्ति आकार धारण करती है। हम जितनी बातें शुद्ध बुद्धि के प्रवाह में आकर किया करते हैं, वे मात्र व्यावहारिकता के छद्मवेष में फिरने वाली हमारी ही निर्बलताएँ हैं। साधना के इस महान यज्ञ में मैंने एक अवसर ऐसा नहीं देखा, जहाँ परस्पर साधक आपस में किसी निजी स्वार्थ के

लिए लड़ पड़े हों। यह बुद्धि के क्षेत्र में आने वाली उदारता नहीं, उसके नपे तुले मापदण्डों में तुलने वाली कलाबाजियाँ नहीं, किन्तु यह है उन भावना प्रधान लोगों की महानता, जिसका जागरण मानव जाति के भाग्योदय के साथ ही संभव है। यहाँ स्वार्थ तो मुँह उतार कर एक कोने में बैठा रहता है, जो स्वार्थी लोग किसी प्रकार गलत फहमियों में यहां आ टपकते हैं, उन्हें कोने में पड़े हुए अपने स्वार्थ की निपट उपेक्षा असहनीय लग उठती है। वे रह रह कर तब पछताते हैं कि यह कौनसा अद्वितीय समूह है, जहां वर्तमान से पृथक एक अन्य प्रकार की सृष्टि की रचना की जा रही है। वे उसमें अपने आपको किसी प्रकार संतुलित नहीं कर पाते।

सुबह से लेकर शाम तक पूर्णतः कर्मरत होकर जिनके जीवन का एक एक दिन यज्ञ की आहुति बन चुका है, जिनकी शक्ति का एक एक अणु महान प्रेरणा का दिव्य स्रोत बन चुका है, जिनके हृदय का एक एक पवित्र भाव मानवता के इतिहास की महान पृष्ठभूमि तैयार करने में जुटा है, वहाँ निजी स्वार्थों को ठहरने के लिए जगह ही कहाँ रह सकती है ? सारा वातावरण त्यागमयी साधना का जीवन्त और जाज्वल्यमान स्वरूप बना हुआ है। क्या यह सब कुछ अयथार्थ स्वप्न है ? क्या इस परिश्रम का कोई मूल्य नहीं ? हाँ इसे वे लोग नहीं समझ सकते जिन्होंने कर्तव्य को नहीं समझा है। लापरवाह के सामने कुछ विद्रोहियों की कहानियाँ पड़ी पड़ी फड़फड़ा रही हैं। उनके जीवन में जितनी कुण्ठाएँ और वितृष्णाएँ थीं उन सबको इन मूक साधकों के मत्थे मँढ कर वे अपना दिल बहलाने का यत्न कर रहे हैं। एक भी विद्रोही ने अपने चारों ओर एक भी व्यक्ति को अपने जीवन और चरित्र से प्रभावित नहीं किया, जबकि वे हमारे सिद्धान्तों को अव्यावहारिक बताने में जी तोड़ मेहनत करते हैं।

लापरवाह ने सिद्धान्तों के तुमुलनाद को सुना है और वह सुन सुन कर बहरा होता जा रहा है। जिन सिद्धान्तों की वे दुहाई देते हैं उन्हीं के विरोध में उनका जीवन का प्रत्येक क्रियाकलाप है। इस प्रकार पाखण्ड सिरजोर होते देखकर कोई भी भला आदमी आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहेगा। लापरवाह यह सब सुनकर उसके प्रति नितान्त लापरवाह बना हुआ है। बड़प्पन इस बात में नहीं है, कि हर मौके पर चोंच लड़ाने को ही पुरुषार्थ मान लिया जाय। यदि विद्रोह, तोड़फोड़ और उद्दण्डता को ही महान घोषित करना है, तो मानवता की सेवा का नाम मात्र पाखण्ड है।

लापरवाह ने एक यथार्थता देखी है। यहाँ की व्यथा एक लापरवाह के समूचे जीवन को झकझोर चुकी है। यहां बड़े से बड़े व्यक्ति के सिर में हथेली मारकर 'वाह रे बुद्धू' कहा जा सकता है और वह बड़े से बड़ा आदमी भी हँसता हुआ दिखाई देगा। जब साथी को पहचानने के लिए हुस्त सुनते हैं,ये उस

समय भी इतने ही प्रसन्न हैं जितने मित्र के मिलने पर ताली बजाते हुए। एक दूसरे के चरणों का स्पर्श तो यहां के खेलों में ही बताया जाता है। लापरवाह ने देखा है, कि कर्तव्य की आग सहनशीलता के ठंडे पानी से भी शीतल नहीं पड़ती । न जाने कितने ज्वालामुखी हैं जो इन्सानों का कलेवर पहन कर भभकने की प्रतीक्षा में धैर्य की अटूट साधना कर रहे हैं। क्या यह सब धोखा, फरेब और दूकानदारी है ?

लापरवाह यह सब देख सन्तोष, शान्ति और उत्साह का अपूर्व अनुभव करता है। यहाँ की बुलन्दी इतनी ऊंची है, कि इन धूल फेंकने वालों की आंखें ही उस धूल से भर जाती हैं। जीवन के महान सिद्धान्त यहां बच्चों के साधारण खेलों के समान सरल और व्यावहारिक बन चुके हैं। लापरवाह ने यहां आकर अपना सुख दिया, आराम दिया, स्वप्न दिये, जीवन दिया, मेरा जो कुछ संग्रहणीय था, उस सबको मैं अपने लिए नहीं रख सका। मैंने अपने स्वार्थ के लिए पूरी लापरवाही बरती क्योंकि इन्हीं वस्तुओं के लिए लोग भी पूरे लापरवाह हैं।

जब मैंने कहा,–''क्या और भी कुछ ऐसा है, जो मेरे पास है और मैं दे सकता हूँ ?'' आहुतियाँ प्रदान करने वाले हाथ रुक गये। आँखें मेरी ओर एक टक याचना की मौन भाषा बोल रही थी। मुझसे न रहा गया,''हाँ हाँ, कहो। और क्या है मेरा जो मैं दे सकता हूँ ?''

''लापरवाह ! अब हमें तुम्हारे दुख सौंप दो, उन्हें हम भुगतें। तुम्हारे श्रम को दो, तुम्हारी नींद भी दे दो, ताकि हम उसे भोगें !''

लापरवाह के जीवन में यह एक ऐसी मांग थी जिस पर कोई भी आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता। मेरे पास जो कुछ अच्छा था वह छिपाकर नहीं रखा पर उसमें एक भी वस्तु को बिना छुए वापिस लौटा दिया और मांग हो रही है– मेरे पास जो कुछ बुरा है, उसकी ! क्या करेंगे ये मेरे दुख लेकर, मेरा श्रम लेकर ये पसीना बहाएँ और मैं आराम करूँ ? अपनी जड़ता भरी नींद भी इन्हें दूँ और सर्वोपरि अपनी मृत्यु भी इन्हें दूँ ? हाँ लापरवाह असमंजस की अवस्था में खड़ा है , सामने एक यज्ञ कुण्ड है जिसमें अच्छा और बुरा सभी स्वाहा किया जा रहा है। भाग्यशाली है लापरवाह, जिसे ऐसे यज्ञ का साक्षी होने का ही नहीं, होता होने का सौभाग्य मिल रहा है। मैं विह्वल हूँ, मेरी लेखनी आत्मविभोर है, मेरा स्वप्न साकार हो रहा है, एक नये समाज की नींव लग रही है। क्या इससे भी बढ़कर जीवन में और कोई मंगल महोत्सव हो सकता है ? कर्तव्य, भावनाओं और प्रेरणा की त्रिवेणी का संगम हो रहा है। लापरवाह इसीलिए मस्त होकर फूलता जा रहा है।

प्रकरण : छः

विद्रोह की आग

लापरवाह ने कई बार देखा, विद्रोह की घटाएँ नीचे आ रही हैं। बिजलियों की कड़क को सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लगता है,वज्रपात होने वाला है और उसके साथ शायद यह समस्त सृष्टि–रचना आग के बगूले की तरह शून्य में भटक कर अस्तित्व रहित हो जावेगी। उसी दिशा से चलती हुई पुरवाई हवा और भी अधिक वर्षा की संभावनाएँ बताती है। हर साधारण व्यक्ति के अन्दाज दहल उठते हैं। लापरवाह ने भी ऐसे तूफानों में अपने दहलते हुए अन्दाजों को देखा है। प्रलय के भय से बरबस लापरवाह चीखने लगा। उसकी चीखें अन्तर की गहरी गुफाओं से निकल रही थी। क्या होगा, हमारी इस नव रचना का ? क्या हमारा श्रम और त्याग व्यर्थ जायेगा? क्या रूठी हुई भाग्यलक्ष्मी को किसी कीमत पर नहीं मनाया जा सकता ? एकता के आदर्श में हकीकत का विरोध कितना निराशाजनक है।

लापरवाह ने केवल सुना था, कि राहगीर के सामने उसके अपने भी पराए बनकर आया करते हैं, लेकिन सुनने और देखने में बहुत फर्क था। सुनाने वाला कल्पना के सहारे काव्य रचना कर रहा था, या फिर उपदेशों को गीतों का स्वर देकर उन्हें मीठा बना रहा था। परन्तु वास्तविकता कितनी बड़ी है, कि कल्पना की समस्त रचनाएँ उसके सामने फीकी पड़ गई । आदमी कल्पना के सहारे गगन में उड़ता है, पर वास्तविकता की धरती से उसके पाँव इतने जकड़े हुए हैं, इसका उसे पता ही नहीं होता। जब पता लगता है, तब उसे सदा महसूस होता है, कि वह कल्पनाओं को सत्य करने की अग्नि परीक्षा में पिघल कर राख बनता जा रहा है। लापरवाह के सामने ऐसे कितने ही महारथियों की जीवनियाँ पड़ी हैं, जिन्होंने कल्पना के सहारे अपने आपको पतंगा बनाकर ऊंचा उड़ाया था, किन्तु यथार्थता की लौ जब कभी प्रज्वलित हुई है, वे महारथी प्रकाश व ज्योति को छोड़ अपने पुराने अन्धकारों से ही प्रेम करने लगे हैं।

गीतों के स्वर बड़े मीठे थे। बचपन के वादे भी बड़े मीठे थे, मगर असलियत इतनी कटु है, कि गीतों का सारा मिठास उनकी कटुता को नहीं मिटा पाया। लापरवाह के जीवन में भी एक बार ऐसी ही विद्रोह की अग्नि

फड़कती हुई दिखाई दी। उसके सामने भी आज जीवन की अग्नि परीक्षा थी। क्या मैं आग में जलकर अपने अस्तित्व को मिटा डालूं अथवा विद्रोह के नारों में अपना ही स्वर मिलाकर अपनी ही बनाई हुई कुटिया को भष्मसात कर दूँ ? विवेक ने लापरवाह का साथ दिया। उसे लगा, मानव जाति में जितने विद्रोह के जलजले उठे हैं, उन्होंने इस जाति को जलाया नहीं पर तत्कालीन मानव समुदाय की उसने परीक्षा अवश्य ली है। मेरी भी परीक्षा की घड़ी सामने खड़ी थी। जलते हुए तर्कों की आग में समाधान का पानी ढूंढने की किसे फुर्सत थी। इतना धैर्य भी किसके पास था, जो आग को यत्नपूर्वक बुझाते ? हर एक या तो अवाक् हो गया था और या चिल्ला रहा था– आग लग गई है– आग लग गई है। घटनास्थल पर जो उपस्थित थे, वे तो सब आग को देख रहे थे और जो दूर थे, उन तक यह आवाज पहुँच नहीं सकती थी, फिर यह चिल्लाने वाले क्यों चिल्ला रहे थे ? शायद उनका ख्याल था, कि चिल्लाने से आग बुझ जायेगी।

लापरवाह ने विद्रोह की आग में सबसे पहला काम किया अपने आपको बचाने का। सारी दुनिया जल जाय लेकिन जब तक मैं स्वयं आग से सुरक्षित नहीं रहूँगा तब तक आग को बुझा नहीं सकता। समाधानों के पानी से अपने बौद्धिक विचारों को गहरा भिगोया। ज्वलनशील पदार्थों को छोड़ा और अब लापरवाह आग बुझाने के लिए दौड़ पड़ा। सामने वे लोग भागते और हड़बड़ाते हुए आ रहे थे, जिन्होंने आग बुझाने की लोक सेवा से पहले अपने बचाव का कोई उपाय नहीं ढूंढा था।

विद्रोह कोई गुण नहीं देखता और न अवगुण ही, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार आग गीली और सूखी लकड़ियों को नहीं देखती। सभी रचनाओं को अपने प्रखर ताप से गिराकर ही दम लेती है, उसी प्रकार विद्रोह ने एकएक गुण को आलोचना शिलाओं पर पटक–पटक उन्हें अवगुण बना दिया। चारों ओर अन्दाजों के अजीब शोर मच रहे हैं। कोई कहते हैं, यह ढकोसला खतम होकर रहेगा और कोई उनका जोरों से प्रतिवाद कर रहे हैं, कि ऐसा कभी नहीं होगा। शब्दों की तू–तू मैं–मैं चल रही है। मौका पाकर निष्क्रिय और उदासीन लोग भी अपना नाम बहादुरों में लिखाने को आतुर हैं, किन्तु आग की ओर बढ़ने का साहस कहाँ से लावें। कुछ ऐसे भी हैं, जो तमाशबीनों की तरह बारीकी से हर बात देख रहे हैं, लेकिन वे भूल जाते हैं, कि काल उन्हें भी देख रहा है। एक महाशय इन्हीं तमाशबीनों के बीच बैठा हुआ कुछ लगातार लिखे जा रहा है। आग खतम होने पर लापरवाह उसके पास भी गया था और उससे पूछा भी था, कि इस संकट की घड़ी में क्या कर रहे थे ?

वह बोला,–'मैं इतिहास लिख रहा हूँ। आने वाली पीढ़ी को आँखों देखा हाल मिलेगा। उन्हें यह सब मिलेगा, कि आग भड़काने वालों ने कितना पसीना बहाया और उसे बुझाने वालों ने कितना साहस दिखाया।''

''आखिर इस लिखने का उद्देश्य क्या है ?'' मैंने पूछा।

''वाह ? इतना भी नहीं जानते ? आने वाली पीढ़ी को मालूम होना चाहिए, कि उन्हें जो सुख–साधन मिले हैं उसके लिए उनके पूर्वजों ने कितना श्रम किया है और उन्हीं के लोगों ने विरोध की कितनी अक्षम्य भूलें की हैं। वे इतिहास की भूलों से सबक लेंगे और भविष्य में संकट का मुकाबला करने के लिए इस आदर्श का अनुसरण करेंगे।''

''कौनसा आदर्श, तुम्हारा या हमारा ? '' मैंने एक कटु प्रश्न पूछा।

''तुम्हारा और मेरा तो एक ही आदर्श है। देखो मैंने क्या लिखा है।'' कहकर वे कागजों के पृष्ठ ढूंढने लगे। लेकिन लापरवाह को उन पृष्ठों को पढ़ने की क्यों परवाह हो, जो उसके लिए नहीं, आगे आने वाली पीढ़ी के लिए लिखे गये थे।

''तो इतिहासकार जी ! रहने दीजिये अपने पिटारे को। मैं तो सिर्फ इसलिए हाजिर हुआ था, कि इतिहास के अन्त में यदि आप भूल जायें तो आपको याद दिला दूँ, कि एक दो पंक्तियाँ जोड़ दें और वे यह कि इस सारे संघर्ष को मैंने अपनी आँखों से देखा और बजाय आग बुझाने , मैं अपनी कलम घिसता गया।'' कहकर इतिहासकार जी की बौखलाई हुई नजरों को एक प्रणाम ठोका और चलता हुआ।

अग्नि जब सहस्त्र जिह्वा हो रही थी, उस समय पंछी जैसे कई तमाशबीन खड़े तमाशा देख रहे थे। कुछ सहानुभूति के आँसू भी बहा रहे थे, मगर सहयोग में नहीं आए। इस संघर्ष में तो केवल लापरवाह जैसे ही चन्द लोग थे, जिन्होंने अपने सत्य के लिए दुनिया की परवाह करना छोड़ दिया था।

इस भयंकर उठा–पटक और शोरोगुल के बीच भी हमारी किस्मत के विषय में सलाह–मशविरा चलता रहा। इतनी धीमी फुसफुसाहट थी, कि कानों तक नहीं पहुंच पाती थी। लापरवाह हैरान था, कि क्या विद्रोह की इस सर्वभक्षी अग्नि में भी इस प्रकार अविचल होकर ध्येय सिद्धि की साधना की जा सकती है ? ठीक है जागृत होने वाली कौम इसी प्रकार निर्विकार भाव से अपनी मशाल को लिए बढ़ती है। कोलाहल में नीरवता, विद्रोह में शान्ति और

संघर्षों में निष्काम कर्मप्रेरणा अब तक मेरे लिए एक राज था। मैं आश्चर्य चकित होकर देखा करता था, पर अब यह राज पोशीदा नहीं रहा। जानने वालों को केवल विवेक पर पड़े पर्दों को एक एक कर उठाना पड़ता है। सत्य इतना ही नहीं, जितना हम सीखते हैं और अन्दाजे भी इतने ऊंचे नहीं जितने ऊंचे सत्य के शिखर हैं।

यदि विद्रोह कहीं न हो रहा हो, तो स्वयं पैदा किया जाय। यह सिद्धान्त–वाक्य नीति की दृष्टि से बड़ा हास्यास्पद लग रहा है, लेकिन इसका व्यावहारिक पहलू लापरवाह ने देखा है। विरोधों और संघर्षों की आँधी में केवल वे ही दीपक बुझते हैं, जो अपनी आत्म रक्षा में शक्ति संचय नहीं करते। इसके सिवाय संघर्ष जो कर्म प्रेरणा देते हैं, वह शान्ति नहीं दे सकती। इसका अभिप्राय यह नहीं, कि शान्ति के पीछे लट्ठ लेकर ही पड़ना चाहिए, बल्कि जब कभी शान्ति, जो पहले सात्विक होकर भी शनैःशनैः जड़ता की ओर मुड़ने लग जाय, तब रजोगुणीय विरोध अपने प्रतिरोध के लिए शान्ति को भी कर्मशील बनाकर उसे सात्विकता प्रदान करता है। इन संघर्षों में जो पंछी की भांति अपने आपको सूखे पत्तों की भाँति उड़ा देते हैं, उनका कोई ठोर ठिकाना नहीं। उन्हें तो असहयोग का साधारण झोंका भी अनन्त वायु मण्डल की ओर उन्मुख कर देता है। फिर उनके पैर धरती पर टिकते ही नहीं।

लापरवाह ने समस्त विरोधों और संघर्षों की एक ही परिणति देखी है। विरोध सदैव निरोधात्मक तेजस्विता में सुरक्षात्मक निष्क्रियता की ओर ही जाता है। निष्क्रियता का ही दूसरा नाम जड़–शान्ति और अकाल मृत्यु है। समस्त विरोध पहले निष्क्रिय हुए, उन्होंने रूठने की तोहमत लगाई और अन्त में अपने ही घावों की मवाद में डूब गए। उनके पीछे न तो कोई स्मारक बना और न कोई मरसिया पढ़ा गया पर दूसरी ओर साधना का क्षेत्र पहले से कहीं अधिक धीर,गम्भीर और कर्म रत बना है। विरोधों ने कटुता उगली और उसी को खाकर चले गये।

वर्षों से लापरवाह इस बेंत की झाड़ी को देख रहा है। तूफान आए और उन्होंने बड़े–बड़े पेड़ों के गर्व को चूर कर उन्हें धूल–धूसरित कर दिया, कितने ही अहंकारों की चोटियां बालू रेत के टीबों में डूब गई। हर वस्तु उलट–पलट गई। तूफानों से पहले आया हुआ व्यक्ति उसी स्थान को तूफान के बाद पहचान नहीं सकता, क्योंकि तूफान ने किसी भी वस्तु को उलट–पलट किये बिना नहीं छोड़ा, पर इस बेंत की झाड़ी पर वह अपना पूरा

बल आजमा कर मर गया, लेकिन कुछ नहीं बिगाड़ सका। हर जलजले में यह झाड़ी हिली डुली है, कई बार जमीन पर चिपक सी गई, लेकिन हवा के रुकते ही फिर वापिस अपनी पूर्व स्थिति में आ गई, अब लापरवाह को विश्वास हो गया है, कि तूफानों का सारा सम्प्रदाय भी आ जाय लेकिन वह भी बेंत को अपने धर्म से विमुख नहीं कर सकता।

लापरवाह बेंत के इसी धर्म का अनुयायी हो चुका है। गर्भ–मन्दिर में जिस रहस्यमय मूर्ति की प्राण–प्रतिष्ठा हुई है, उसके श्री विग्रह के समक्ष असंख्य विश्वासों की शाश्वत सृष्टि का काम चल रहा है। लापरवाह का अभी यह दावा नहीं, कि ऐसे समस्त विश्वासों के आधार दृढ़ बन चुके हैं, लेकिन जब कभी भी वह अपने किसी भी विश्वास की पुष्टि करना चाहता हो, कर सकता है। लापरवाह ने अपने समस्त विश्वासों की परीक्षा ली है, और उन्हें पुष्ट किया है। कुछ ऐसे विश्वास हैं, जिनका आकार भी फिलहाल नहीं बना है। जाहिर है ऐसे विश्वासों के लिए अभी समय चाहिये, लेकिन काल भी प्रतीक्षा को सलाह देकर अनवरत कर्म निष्ठा को ज्वलन्त रखने की मांग करता है।

अब तो विद्रोह की घटाएँ नित्य घुमड़ आती हैं। लापरवाह उनकी कोई परवाह नहीं करता । वह लापरवाह जो ठहरा। ऋतु आने पर यदि घटाएं नहीं आयेगी, तो क्या मौत आयेगी ? बिजलियाँ कड़कती हैं, पर अब विप्लव का भय नहीं रहा। पुरवाई हवाएं चलती हैं, और लापरवाह बजाय दरवाजे बन्द करने के खुद ही नंगे बदन मैदान में आ खड़ा होता है। उसके स्वप्नों की अग्नि पर कुछ ठण्डी फुहारें पड़ती रहे तो अच्छा है। अन्तर्दाह की शान्ति के लिए ही लापरवाह ऐसी समस्त घटाओं को निमन्त्रण की निगाहों से देखता है। लेकिन विरोध के किसी बादल में इतना पानी नहीं कि वह बारहों मास बरसता रहे। मूसलाधार बरसा कर थोड़ी ही देर में खाली हो जाते हैं इसी पानी से मेरी यह धरती लहलहा उठती है। अनेक छोटे छोटे बीज अपने कलेजे चीर–चीर उसमें से नई कोंपलें और अंकुर पैदा करते हैं। विध्वंस और सृजन का यह लीलामय आँख मिचौनी का खेल चलता ही जा रहा है और लापरवाह की दुनिया उसी में उन्नत सभ्यता की ओर विकसित होती जा रही है। उसे इन समस्त विरोधों का एक ही पहलू दिखाई देता है, कि हर विरोध ने हमारे ईमान की परीक्षा लेकर उसे ठोस घोषित किया है। हर बाधा ने हमें ठोकर के प्रति सावधान किया है और हर मृत्यु ने हमें सैंकड़ों नए जीवन प्रदान किए हैं।

लापरवाह को इस कशमकश में अपने और परायों के भेद मालूम हो गए। उसे अब व्यावहारिक रूप में यह मालूम हुआ है, कि जो साथ देने वाले हैं, वही साथी हैं, शेष निष्क्रिय और तटस्थ प्रेक्षक भी परायों से किसी हालत में कम नहीं हैं। मित्रों की मित्रता की परीक्षा ऐसे ही समय पर हुआ करती है और यही समय शत्रुओं के पहचान का भी हुआ करता है।

जब लापरवाह साधना की दृढ़ता पर विचार करता है, तो उसे आश्चर्य होता है। आज के इस स्वार्थी युग में जहाँ अपने मतलब की सबसे अधिक कीमत की जाती है, वहीं यह निःस्वार्थ सहयोग किस प्रकार पनप जाता है। भ्रष्ट युग में एक भी ईमानदार आश्चर्य है। हिरण्यकश्यप के राज्य में प्रहलाद का रामनाम जपना आश्चर्य ही तो था। आज के इस जमाने में स्वार्थों की जहाँ खुलकर प्रतिस्पर्धा चल रही है, वहाँ त्याग का एक छोटा सा अभ्यास भी सभी को आश्चर्य चकित किए बिना नहीं रहता। लापरवाह जब इसके कारणों पर आता है, तब उसे पंछी की रामकहानी का एक प्रंसग सहसा याद हो आता है। पंछी का कहना है, कि यहाँ रंग भेद नीति चलती है, लेकिन दुनिया में जहां कालों को गोरों के मुकाबले में घटिया दर्जा मिलता है, वहाँ इस जगह बात बिलकुल उल्टी है। यहाँ उसके ख्याल से कालों की पाँचों अंगुलियाँ घी में रहती हैं। बात तो पंछी की ठीक है, लेकिन कुछ अर्थ और प्रसंग भिन्नता से ही। संसार में केवल एक ही रंग ऐसा है, जिस पर अन्य कोई रंग नहीं चढ़ता और वह स्वयं सभी रंगों पर चढ़ सकता है, ऐसा रंग काला है।

लापरवाह ने भी इस एकता की तह में विश्लेषण से पाया है, कि जो एक दिन 'माटी' के रंगरेज थे, वही आज के युग में मनुष्यों के मन–बुद्धि और हृदय को रंगने का काम करते हैं। उनकी तूलिका में इतना गाढ़ा, गहरा और पक्का रंग है, कि एक बार जिस किसी को अच्छी तरह पोत दिया, वह दुबारा किसी रंग से नहीं रंगा जा सकता। ऐसा रंगा हुआ नवागन्तुक बजाय शर्मिंदा होने के स्वयं ही अपने जैसे रंग से अन्य लोगों को रंगने के लिए प्रसन्नतापूर्वक चल पड़ता है। इसीलिए साधना का यह समूचा परिवार विविधताओं की चित्र–विचित्र प्रदर्शनी नहीं बल्कि एकता का प्रतीक है। कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जो अपने आपको रंगने नहीं देते। उन्हें अपनी तथाकथित खूबसूरती पर निहायत नखरे बाजी होती है। थोड़ी सी बालों के मिट्टी लगी नहीं, कि वे सीधे पानी के नल की ओर भागते हैं। हवा के एक झोंके से एक बाल भी बांका हुआ नहीं कि झट से कंघा निकाल लिया। इस

कोटि के लोगों को रंगने में निःसन्देह अमित धैर्य, लगातार परिश्रम और वर्षों का समय चाहिए। बीच–बीच में इतनी उछलकूद भी मचाते हैं–हायतोबा करते हैं, कि पास वालों की इच्छा होती है, कि इसे जहन्नुम में क्यों नहीं जाने दिया जाता। लेकिन ये रंगरेज भी बड़े अनुभवी हैं। छोड़ते तभी हैं, जब बाहर और भीतर की रंगाई पूरी हो जाती है। कुछ लोग, कभी–कभी एक आध प्रतिशत ऐसे भी होते हैं, जो पर्याप्त सावधानी रखने के बाद भी भाग खड़े होते हैं। वे अधरंगे बदरंगे और कई–कई तो सतरंगे अच्छे खासे विदूषकों से लगते हैं। बातें तो हर विदूषक भी बड़ी गम्भीरता से करते हैं, लेकिन उन्हें देखने वाले तो हंसे बिना रह नहीं सकते। केवल ऐसी ही कोटि के लोग होते हैं, जिन्हें एकता का रंग पसन्द नहीं है। वे विविधता के व्यभिचारी भाव से रंगे होने के कारण दूर ही भागते हैं। सामने पड़ने पर चूँ तक नहीं करते। जितने विरोध हुए हैं वे भी पीठ पीछे घुसड़–पुसड़ अवश्य करते हैं, लेकिन मुंह पर कुछ भी कहने का किसी को साहस नहीं होता। यह बात स्वयं इस तथ्य की पुष्टि करती है, कि रंग कितना गहरा और प्रभावशाली होता है।

वैसे आलोचना तो किसकी नहीं होती। सर्व शक्तिमान पूर्ण परमेश्वर की लोग जो धज्जियां उड़ाते हैं, उसे देखकर तो मनुष्य को हिम्मत बढ़ानी चाहिए और अपने उद्देश्य पर कर्मरत हो जाना चाहिये। लापरवाह का यही मत है, कि इसी प्रकार के रंग में रंगे बिना किसी देश, जाति का जीर्णोद्धार होना सम्भव नहीं और इसीलिए लापरवाह यही सोचकर सन्तुष्ट है कि उसे जहां आना चाहिए था, वहीं आया है और जिधर जाना चाहिए था, उसी ओर काफिले के साथ जा रहा है। किसी में हिम्मत है, तो आकर शामिल हो, वर्ना काल की धारा के किनारे पर खड़ा होकर इस लापरवाह की लापरवाही देखता रहे और देखता रहे कि उसकी लापरवाही क्या रंग लाती है।

प्रकरण : सात

दृष्टिकोण

लापरवाह को एक बार बसन्त ऋतु के नव प्रभात में बड़ा सुन्दर सपना आया। चारों ओर जिन वृक्षों में पतझड़ के कारण पत्ते झड़ गये थे, उनमें कई कोंपलें उग आई थी। पक्षियों का कलरव बड़ा मनोहारी था। पवन में एक दिव्य संगीत की मादकता थी। पुष्प उमगों में एक दूसरे पर पराग उछाल कर वसन्तोत्सव मना रहे थे। ऐसे उल्लास भरे भोर में लोग प्रकृति का विहार करते हैं, लेकिन लापरवाह कभी प्रकृति की मुस्कान की परवाह नहीं करता और न उसके क्रोध की। वह तो हर अवस्था में अपनी परवाह करता है और सबसे लापरवाही करता है। ऐसे मधुर प्रभात में लापरवाह को मीठी नींद में मगन होना बड़ा अच्छा लगता है। निर्विघ्न नींद का आनन्द ले रहा था, और तभी एक अजीब स्वप्न देखा।

एक सांप अपने बिल से निकल कर मैदान में आया। वह रंग बिरंगे चिकत्तों वाला कोई मामूली साँप नहीं था। बड़ में घुस कर कभी पीपल में निकलता और पीपल में घुस कर बड़ में। उसकी कोमल और सुन्दर देह के कारण वह सकड़ी से सकड़ी जगहों में भी बड़ी आसानी से निकल जाता था। चारों ओर पेड़ों पर बैठे पक्षियों ने कलरव शुरू किया, एक परिचित सा चेहरा वृक्षों की ओट से बाहर निकला। वेशभूषा ग्रामीण कालबेलिये जैसी थी। पिटारा और मुरली भी साथ थी। याद तो नहीं आ रहा था, पर लगता था, जैसे मैं इस व्यक्ति को युगों से जानता हूँ, लेकिन कालबेलिये के कपट वेश के कारण ठीक तरह नहीं पहचान पा रहा हूँ।

नागराज की नजर कालबेलिये पर पड़ी और स्वभाव वश उसने फुफकार छोड़ी, जैसे पूछ रहा हो, तुम मेरी शान्ति को भंग करने वाले यहाँ कहाँ आ मरे? कालबेलिये ने उत्तर के बजाय पीठ पर खोंसी मुरली निकाली। वह बीन बजाने लगा। सुर और श्वास के साधन के कारण उसकी छोटी–छोटी आँखें बड़ी होकर जैसे बाहर गिर पड़ेगी। गाल अपनी पूरी गोलाई से फूले हुए थे और इतनी मधुर रागें निकालने लगा, कि पक्षियों ने चहचहाहट बन्द कर दी। नागराज भी फुफकारना बन्द कर उस ओर एक टक देखने लगे। अलाप उभरने और उतरने लगे और उसके साथ बरबस नागदेवता भी झूमने लगे। नींद में सोता हुआ लापरवाह भी झूम उठा। चारों ओर संगीत का

आह्लादकारी समाँ बंधा हुआ था। सरक कर नागराज कालबेलिये के पास पहुंच गये, लेकिन वह तो तूती बजाता ही रहा, झूमता ही रहा। चेहरों की रगों का खून जैसे बन्द हो गया था और उसकी काली चमड़ी पर भी ललाई फैल गई थी। बड़ी देर बाद उसने वाद्य बजाना बन्द किया। सांप बोला,– ''और सुनाओ।''

''नहीं थक गया हूँ, बाद में सुनाऊंगा, लेकिन मुझे तो दूर देश जाना है।''

''तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगा, तुम्हारी मुरली में मुझे अजीब सी मिठास लगती है, ऐसी मिठास, कि जिसमें कोई गहरा दर्द समाया हो। इच्छा होती है, कि सुनता ही जाऊं।''

''तो चलो मेरे साथ, लेकिन काट तो नहीं खाओगे ?''

''अच्छा ! यह कह मेरा दांत तोड़ना चाहते हो ? मैं ऐसी फाँक में नहीं आने वाला। जहन्नुम में जाय तेरी मुरली।''

''नहीं भाई मेरा यह धन्धा नहीं है, विवशता से मैंने यह वेश धारण कर लिये हैं। सच तो यह है, कि मैं दांत तोड़ना तो जानता ही नहीं। मैं तो इसलिए तुमसे वचन माँग रहा था, कि मुझे काट न खाना।''

नागराज ने प्रतिज्ञा ली। पिटारी में जाकर बैठ गया और वह अजीब कालबेलिया चल दिया। स्वप्न में अब दूसरा ही दृश्य दिखाई देने लगा। एक जगह भीड़ खड़ी थी और कालबेलिये को घेर कर कह रही थी, हमें खेल बताओ। साँप को उसने पूछा तो उसने हाँ भरी । खेल शुरू हुआ। मुरली बजने लगी, सांप झूमने लगा। वह कालबेलिये के चारों ओर चक्कर काटता, कभी झुककर सलाम करता, कभी उसके कन्धों पर चढ़कर तमाशबीनों की ओर फुफकारता, कभी गुलांच मार कर जटा पर बैठ जाता। भीड़ बड़ी प्रसन्न थी। किसी ने पैसा दिया, किसी ने रुपया। खेल समाप्त हुआ। पिटारी में सांप ने जाने से पहले कहा,–''मिस्टर कालिया, यह सारे पैसे हजम मत कर लेना, मेरे लिए दूध चाहिए।''

''हाँ–हाँ भाई अधीर क्यों हो रहे हो। जब मैं भोजन करूंगा तो तुम्हें भूखा थोड़े रखूँगा ?''

''तुम तो उपवास और व्रत कर लोगे, पर मैं पंडा पंथी में कत्तई विश्वास नहीं करता । तुम चाहे जो करो पर मेरा भोजन समय पर मिलना चाहिए।''

''जरूर मिलेगा !'' इतना ही बोल कर वह चुप हो गया। थोड़ी देर में उसने उसे दूध पिलाया; पिटारी में बन्द कर छाया में ले गया। सिरहाना लगाकर सुस्ताने लगा। अन्दर से सांप बोला,–''ए मिस्टर ! यह क्या मजाक है ? आप तो सो रहे हो और मुझे इसमें बन्द कर दिया ?''

चुपचाप कालबेलिये ने पिटारी खोल दी। सांप बाहर निकलकर पेड़ के तने के पास सुस्ताने लगा। कालबेलिये को भी झपकियां आने लगी, थोड़ी ही देर में वह हड़बड़ा कर खड़ा हो गया। उसे सांप ने अंगुली में डस लिया था।

मेरा सपना टूट गया। वैसे लापरवाह को सपनों की दुनिया में इतनी परेशानी नहीं होती, लेकिन उसके सामने अनेक प्रश्न हैं, जिनका समाधान नहीं हुआ। उसके सामने तीन चार प्रकार के पात्र हैं। एक तो वे पंछी जो किसी खतरे को देखकर चहचहाते हैं। चहचहाना और चोंच लड़ाना ही उनका स्वधर्म और स्वभाव है। दूसरी है, वह तमाशबीन जनता जो तमाशा देखने के लिए रुक जाती है, पैसा भी दे देती है पर अन्य किसी दर्द, व्यथा और समस्या से जिनका कोई सम्बन्ध नहीं। यह दोनों पात्र जीवन संग्राम के रणक्षेत्र में कितने तटस्थ और लापरवाह हैं। असली संघर्ष तो साँप और कालबेलिये का है।

कितना बेवकूफ कालबेलिया है जो सांप जैसे जहरीले जानवर का विश्वास करता है। बिना दाँत तोड़े खतरनाक खेलों की जोखिम लेता है, स्वयं भूखा रहकर उसे दूध पिलाता है। वह राजनीति की सींग–पूंछ भी नहीं जानता। दूसरी ओर कितना धूर्त और स्वेच्छाचारी है वह सांप जो या तो मुरली की मीठी राग के कारण साथ चलने को तैयार हो जाता है, या दूध पीने के लिए तमाशा भी दिखा देता है, लेकिन समय आने पर प्रतिज्ञा और वचन भी तोड़ कर डंक लगाता है।

लेकिन मुझे अपनी मान्यताओं पर पुनः विचार भी करना चाहिये। आलोचना के दूसरे पक्ष को भी तोलना चाहिए। पक्षियों के पास चहचहाने के सिवाय और कोई चारा नहीं। वे करते ही क्या? शस्त्र के रूप में उनके पास केवल चोंच थी, जिसका उन्होंने पूर्ण उपयोग किया। हाँ, उनमें से कोई गरुड़ नहीं था, जो उस सांप को अपना भोजन बनाने के लिए पकड़ कर आकाश में उड़ जाता। बेचारे अन्य निर्बल पक्षी क्या करते। उन्होंने तो आत्मरक्षा की, अपने साथी पक्षियों को चहचहा कर सावधान किया। इससे बढ़ कर वे कुछ कर भी तो नहीं सकते थे। उनका कोई दोष नहीं था। अभाव था गरुड़ का और यदि उनमें गरुड़ था, तो खतरनाक लापरवाही का शिकार था।

उस भीड़ का भी क्या दोष था ? तमाशा देखना ही तो उनका लक्ष्य था। उसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे खड़े थे और रुपये पैसे भी दिये। उनमें से किसी का लक्ष्य नहीं था, कि अमृत होकर जीने वाले समाज की रक्षा की जाय और विष होकर जीने वाले का नाश किया जाय। वह भीड़ तटस्थ प्रेक्षकों की भीड़ थी और मनोरंजन ही उसका लक्ष्य था। दोष होता तो उस व्यक्ति का होता जिसका लक्ष्य साँप को नष्ट करने का होकर भी केवल तमाशा देखता रह गया।

आखिर उस साँप का ही क्या दोष था ? उसे साथ में लिया ही क्यों गया?

दूध ही क्यों पिलाया ? उसके दाँत पहले ही क्यों न तोड़ डाले गए ? लापरवाह ही क्या सारी दुनिया जानती है, कि साँप स्वभाव वश ही डसते हैं। डसे नहीं तो वह करे भी क्या ? परम्परा से उनका यह स्वभाव रहा है। दूध पिलाने वाले को काटना साँपों की भाषा में विश्वासघात और कृतघ्नता नहीं है, यह तो मनुष्य की भाषा है। तब फिर दोष उस कालबेलिये का ही है।

लेकिन क्यों ? क्या इसलिए नहीं कि और किसी पर दोष साबित नहीं कर सका, केवल इसीलिए कालबेलिये का दोष है ? क्योंकि बन्दूक से गोली निकल चुकी और यदि कोई घायल नहीं हुआ, तो कालबेलिये को ही घायल होना चाहिये। लापरवाह को यह तर्क बड़ा पंगु लगता है। क्या विश्वास करना कालबेलिये का दोष है ? क्या विश्वास करना मनुष्य का स्वभाव नहीं है ? क्या पत्थर को देवता मानना बुरा है ? लापरवाह की राय में पत्थर को देवता मानना इतना बुरा नहीं जितना देवता को पत्थर मान लेना बुरा है। मानव सभ्यता का समूचा इतिहास इसी विश्वास के आधार पर पनपा और बड़ा हुआ है। धोखा खाने वाला कभी भी बुरा नहीं केवल धोखा देने वाला ही बुरा है। लापरवाह को जब यह बात समझ में आई तब से लेकर उसे सदैव दुनिया के इकतरफा विचार पर नफरत हो गई। अब तो हर वस्तु और बात के लिए लापरवाह केवल अपना दिमाग लगाकर ही औचित्य का निर्धारण करता है।

लापरवाह को अब तक यही शिक्षा मिली है। उसे साधना कुटुम्ब में यह शिक्षा मिली है, कि कोई भी परिवर्तन जो बाह्य आकृति का है, इतना महत्त्व का नहीं जितना महत्त्व भीतरी परिवर्तन का है। लापरवाह ने साधना के क्षेत्र में यही पाया कि भीतरी परिवर्तन अनिवार्य है और उसका सीधा सादा स्पष्टीकरण है दृष्टिकोण को बदलना। कालबेलिये व साँप के सम्बन्ध में भी असाधारण के विरुद्ध जो दृष्टिकोण का परिवर्तन है, उसका लापरवाह साधना को ही श्रेय देता है।

असंख्य लोगों के जीवन में क्रान्ति पैदा करना विचार क्रांति से ही संभव है और विचार क्रांति का सरल स्पष्टीकरण है वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन और उसके प्रति दृष्टिकोण को बदलना। मैं तो यही सोचता हूं कि मुझे आज तक जो दिखाई दिया है उसी को आज नये दृष्टिकोण से देखता हूँ तो अनेक सत्य–ऐसे जो पहले कभी निरर्थक और बेकार प्रतीत होते थे–सहसा मूल्यवान दिखाई देने लगे हैं। लापरवाह का ऐसा विचार है कि जब समाज के बहुसंख्यक लोगों के दृष्टिकोण में इसी प्रकार परिवर्तन आयेगा तब समाज के जीवन में भी परिवर्तन आयेगा। यही है वह सामाजिक क्रांति जो आज के युग की मांग है और यही सामाजिक क्रांति अन्ततोगत्वा अन्य क्रान्तियों की पृष्ठ भूमि है।

प्रकरण : आठ

कृतज्ञता

इस दुनिया में कई ऐसे पंछी होते हैं, जो राह पर तो चल देते हैं, लेकिन राह की पीड़ा से उन्हें कोई वास्ता नहीं होता। जाने वे क्यों चल पड़ते हैं ? बहुत सम्भव है, वे चलने वालों की देखा–देखी बिना सोचे समझे चल देते हैं या फिर जीवन की मंजिलों को वे केवल मनोरंजन का साधन मात्र ही मानते हैं। लापरवाह भी कभी ऐसे ही चल पड़ा था। पंछी ने अपनी रामकहानी में आंसुओं के सामूहिक कार्यक्रम का जिक्र किया है। मेरा भी कपाल पनीला नहीं है, पर यह सच है कि कोई भी रोने का नाटक कर सकता है किन्तु नाटक में आँसू ग्लीसरीन के ही होते हैं। असली पानी जब कभी आँख में आता है, तब वह हृदय के स्रोत से ही उमड़ता है। अनेक बार ऐसे अवसर आए थे, जब लापरवाह ने भी लोगों की आँखों में बहते आँसुओं को देखा। कई बार तो वह आश्चर्य चकित रह जाता था, कि आखिर मेरे आसपास वाले रो क्यों पड़ते हैं और कई बार वह लापरवाह होने के कारण ऐसी स्थितियों से अपने आपको ऊपर उठा हुआ मान लेता था।

हम अनेक घटनाएँ अपने सामने घटित होते हुए देखते हैं, लेकिन शायद ही कभी उनकी गहराई में टोह लगाते हैं और इसीलिए प्रायःमानसिक रूप से अनुपस्थित रहने के कारण हर आँसू हमारे लिए अप्रत्याशित ही लगता है। जब कभी उस घटना का जिक्र कोई अपने शब्दों में करता है, और उस घटना से सम्बन्ध रखने वाली अपनी ही भीतरी सहानुभूति को भाषा प्रदान करता है, तब बरबस हमारी आँखें भी गीली हो ही जाया करती हैं।

ऐसी दो तीन घटनाएँ लापरवाह के जीवन में भी घटित हुई। पहाड़ियों से घिरे एक गाँव में हम लोग एक सप्ताह के लिए साथ रहे थे। सर्दियों के दिन थे। कड़ा परिश्रम करना पड़ा और अन्त में जब विदा हुए तो विदाई के समय कुछ लोगों की आँखें गीली हो गई। जिन साहब ने हमारे रहने की व्यवस्था की थी, उनसे मिलने गए तब उन्होंने अपने अनुभव की बात कही कि आँखों में आँसू सहज ही में नहीं आता और आप लोगों के विदा–समारोह के समय प्रायः सभी लोगों का रुदन इस बात का द्योतक है,कि आप उनके जीवन में कितने गहरे पैठते हो। लापरवाह भी साथ था, विदा के समय उसके आँसू नहीं आए थे क्योंकि वह उस समय कुछ और ही सोच रहा था। लेकिन

व्यवस्थापक महोदय की बात सुनकर लापरवाह को भी ध्यान आया कि हमारे सम्बन्ध वास्तव में यथार्थ हैं और गहरे भी। मुझे उसके बाद उस समारोह की कई दिनों तक याद बनी रही और वे शब्द भी याद रहे कि हम केवल ऊपरी सम्बन्ध कायम नहीं करते, गहरे भी पैठते हैं।

पंछी की राम कहानी में एक जगह सामूहिक रुदन के कार्यक्रम का वर्णन आता है। ऐसे कार्यक्रम में लापरवाह भी शामिल था। पंछी ने उसका तोड़–मरोड़ कर वर्णन किया है। यद्यपि लापरवाह को भी आँसू नहीं आए थे लेकिन उसने उस सजीव कहानी को कभी–कभी सुनी थी। जब कभी कथावाचक और कथा एक हो जाते और कथा के पात्र भी कथावाचक जैसे ही लगने लगते तब मेरे भी शरीर में झुरझुरी पैदा हो जाती थी। लेकिन ऐसे हर मौके को लापरवाह सप्रयास टला दिया करता था क्योंकि वह रोना नहीं चाहता था। किन्तु वह चारों ओर बहने वाले आँखों के निर्झर से सर्वथा अप्रभावित होकर कैसे रह सकता था। उसे अनुभव हुआ कि लापरवाह के पुनीत लक्ष्य के लिए आँसू बहाने वाले भी कितने हैं। खासतौर पर उन लोगों को देखा है जो अपने व्यावहारिक जीवन में इतने हंसोड़ और दिलचस्प व्यक्ति हैं, कि उनके लिए दस मिनट तक भी बिना हंसे हंसाये रहना कठिन था, किन्तु कार्यक्रम के उन गम्भीर क्षणों में वे सहसा कितने गम्भीर हो जाते थे और फिर समय आने पर कितने आर्द्र हो जाते थे, यह सब लापरवाह की कल्पना से परे की बात थी। उछल कूद और हल्ला–गुल्ला मचाने वाले जब आँसुओं के सागर में डूबने उतरने लगते हैं, तब सन्देह होता है कि उनकी उछल कूद कृत्रिम है या उनका रुदन।

पंछी तो मानता है, कि वह सब नाटक है, लेकिन लापरवाह के भी एक बार आँसू आए थे और इसलिए लापरवाह यह कभी नहीं मान सकता कि कोई रोने की इच्छानुसार सिद्धि हासिल कर चुका है। संसार में शायद ऐसे असाधारण अभिनेता हो सकते हैं, लेकिन मेरे आसपास तो अत्यन्त साधारण लोग रहते हैं और उनमें भी प्रायः सभी बह जाने वाले नाटककार या नट नहीं हो सकते। यह तो पीड़ा है, जो भभकने की प्रतीक्षा में हजारों वर्ष तक उबलती रहती है। केवल कभी–कभी अवसर पाकर उसकी कुछ कुछ आर्द्रता बाहर प्रकट होती है, जिसे वे यत्न पूर्वक छिपाने की चेष्टा करते हैं। इन सबको नाटक की संज्ञा देना मानव जीवन की कोमल भावनाओं और उसकी भव्य उदात्तता को अपमानित करना है।

लापरवाह ने अपने जीवन में अनेक घटनाओं को देखा है, लेकिन बहुत बार आँखों से ही देखा है। हृदय से देखने का वह जब कभी यत्न करता है,

तब उसे छोटी–छोटी बातों में भी गम्भीर और महान बातें नजर आती हैं। एक बार का जिक्र है, कि उसने एक छोटी सी घटना को अपनी आँखों से देखा लेकिन उसने कुछ भी सोचा नहीं। हम करीब डेढ़ सौ व्यक्ति एक जगह रह रहे थे एवं उस दिन दूर कुए पर से हमारे लिए जल लाने का काम छोटे–छोटे बालक कर रहे थे। हम लोग नाश्ता कर रहे थे, उनमें से कई इतने छोटे थे, कि जिन बाल्टियों में वे पानी ला रहे थे, वे उनसे कहीं बड़ी थी। लेकिन पानी लाते समय परेशानी की एक भी रेखा उनके चेहरों पर नहीं थी, बल्कि वे मुस्कराते भी जाते थे। बाल्टी के डोलने के साथ वे भी डोलते थे। पानी छलक–छलक कर उनके छोटे–छोटे शरीरों को नहला रहा था और वे कभी मुस्कराते, कभी होठों को भींचकर, कभी जीभ को थोड़ी सी बाहर निकाले लगातार हमारे लिए पानी ला रहे थे। मेरे लिये यह कोई नई बात नहीं थी। रोज ही ऐसा होता था और मैं देखता था, कि महान यज्ञ में छोटे–छोटे हाथ भी अपनी आहुतियाँ किस मनोयोग से दे रहे हैं लेकिन यही बात मुझे किसी बौद्धिक में सुनने को मिली। जब मैंने सुना कि उन लोगों का हमारे लिए यह प्रयत्न कितनी प्रेममयी भावनाओं से ओतप्रोत था। बौद्धिक के शब्दों का सहारा लेकर ज्योंही मैं उनके प्रति कृतज्ञ बना, मेरी कृतज्ञता धीरे–धीरे रंग लाती गई और जब असहनीय हो गया तो मेरी आँखों में भी उस दिन आँसू आ गए।

जो सेवक की सेवा को कर्तव्य पालन की संज्ञा देकर अपने ज्ञान के बोझ से बेहाल हो जाता है, वह नहीं जानता कि हर मनुष्य उपकार के बदले में कृतज्ञ हुए बिना नहीं रह सकता। कृतज्ञता से ही मनुष्य की उत्कृष्टता नापी जा सकती है। सेवा से जो कृतज्ञ हो जाता है, वह सेवा की कीमत चुकाता है। समाज और नैतिकता की भव्य इमारत इसी कृतज्ञता की बुनियाद पर खड़ी है। अकृतज्ञ कभी आँसू नहीं बहा सकता। जो सोचता ही नहीं वह कृतज्ञता अनुभव भी नहीं कर सकता। लापरवाह ने जब कभी कृतज्ञता अनुभव की तब हमेशा उसमें मानव जीवन की उत्कृष्टता के स्पर्श का अनुभव किया है। हमारे सामूहिक जीवन की यही बुनियादी चिरन्तन परम्परा है।

अब तो लापरवाह कण–कण में, जर्रे–जर्रे में कृतज्ञता अनुभव करता है। जो इस समाज के लिए आँसू बहाता है, जो मेरी वीर परम्परा के प्रति आर्द्र हो उठता है, जो लापरवाह के लक्ष्य–यज्ञ में सप्रेम आहुति प्रदान करने वाले प्रत्येक साधक के प्रति कृतज्ञ है, उन सबके लिए लापरवाह के दिल में गहरा सम्मान है। लापरवाह उन पत्थर दिल लोगों पर आश्चर्य करता है कि वे मेरे इस कारवाँ के साथ भाव रहित होकर चलते ही जाते हैं। आखिर उनका हम

से क्या सम्बन्ध है ? हृदय का सम्बन्ध तो आँखों से प्रकट होता है, पर ये किस मिट्टी के बने हैं ? शायद इनकी आँखों में अब आँसू सूख गए हैं। मगर इनमें अनेक ऐसे भी हैं जिनकी भावनाएँ अभी तक जागृत ही नहीं हुई। क्योंकि इन्होंने कभी कृतज्ञता अनुभव ही नहीं की, कभी घटनाओं के पीछे सार भूत कारणों पर चिन्तन मनन ही नहीं किया। ऐसे लोग वर्षों से हमारे साथ पत्थर की मूर्तियों की भांति चलते तो रहते हैं पर मेरा कुटुम्ब भी ऐसा है, जो उनके चलने को अंगीकार ही नहीं करता। वे लोग यह दावा करते हैं, कि उनके साथ बड़ा अन्याय हो रहा है, वर्षों तक वे रगड़े जाते हैं किन्तु उन्हें कोई आकृति ही प्रदान नहीं होती। एक महाशय ने तो यहां तक कह दिया, कि उसके लिए उसका शिक्षक हितचिन्तन नहीं करता। उसकी केवल गलतियाँ ही देखी जाती हैं और वह भी इस नियत से कि उसे हर समय जलील किया जाय। पाठक अनुभव कर सकते हैं कि ऐसे तथाकथित साधकों का चिन्तन स्तर किस कोटि का है? इन्हें दुनिया के प्रति शिकायत है मगर दुनिया के प्रति कृतज्ञता को अनुभव नहीं कर पाये हैं और इसीलिए उत्कृष्टता उनके पास से भी नहीं फटकती।

लापरवाह का कौटुम्बीय जीवन बिना ऐसे लोगों की परवाह किए निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। न जाने कितने लोग इसे मनोरंजन का साधन बनाने के लिए आए, कितने मनोरंजन के अभाव में जा चुके हैं और कितने ऐसे भी हैं जो अभी तक उस घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब मेरा साधना कुटुम्ब उनकी लगातार उछल कूद का कभी न कभी कृतज्ञ बनकर उन्हें सिर आँखों पर उठायेगा, मगर होनहार जानता है, उनकी क्या गति हुई है और क्या गति होगी। जब से लापरवाह ने कृतज्ञ होना सीखा तब से उसे जीवन में यथार्थ स्नेह मिलने लगा, यथार्थ सन्तोष और यथार्थ आनन्द प्राप्त हुआ।

प्रकरण : नौ

विदा

संसार एक ऐसी सराय है, जिसमें प्राणियों का आना और जाना बना रहता है। बड़े से बड़े महापुरुष जिन्होंने प्राणी मात्र को जीवन की दिव्य प्रेरणा दी और जिनकी संसार में बड़ी आवश्यकता थी, वे भी आखिर एक न एक दिन इस संसार से कूच कर ही गए। लापरवाह जिस संसार में रहता है, उस पर भी सामान्य संसार के नियम लागू होते हैं। यहां भी अनेक लोग आते हैं, परिश्रमपूर्वक अपना काम करते हैं और अपनी उपादेयता पूरी करने के बाद चलते बने हैं। जिसकी जब तक आवश्यकता थी, तब तक वे अपना उत्तरदायित्व निभाते रहे और जब उनकी कोई आवश्यकता नहीं रही तो वे किसी न किसी बहाने रवाना भी हो गए। विदा के बाद झींकते हैं, रोते हैं, दुखी होते हैं। उनके इस उपद्रव से भी, न जाने वाला लौट कर ही आता है और न इच्छित वस्तु की प्राप्ति ही होती है।

लापरवाह अपने जीवन में यह अनुभव कर चुका है कि इस संसार में यथार्थ रूप से चिन्तित होने लायक बहुत ही कम आदमी हैं। बहुत से लोग तो ऐसे हैं, जिन्हें लापरवाह दरवाजे पर बनाये रखना ही पसन्द करता है, कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें लापरवाह भीतर आने की अनुमति तो देता है, पर बातचीत के उद्देश्य के बाद यथाशीघ्र चलता भी करता है। उन लोगों की तादाद बहुत थोड़ी है, जिन्हें वह अपने हृदय में स्थान देता है।

हृदय में स्थान पाने वाला व्यक्ति जरूरी नहीं कि बहुत बड़ा आदमी ही हो। बुद्धि की बारीक नोंक झोंक करने वाले मित्रों से लापरवाह को सख्त चिढ़ है, क्योंकि वे अपने व्यर्थ के बौद्धिक विकास में इतने अकड़ कर चलते हैं कि उन्हें धरती पर चलने वाले इन्सान तो बुद्धि के ब्रह्मचारी ही लगते हैं। लापरवाह को कुछ ऐसे तथाकथित विद्वानों के उदाहरण याद हैं, जिन्होंने अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता का सिक्का जमाकर लोगों पर मनमानी की, जिन्होंने अपने जीवन के स्वर्णयुग में गैर जिम्मेवार, गलतियाँ करने वाले और विदा लेने वालों को जी भर कर कोसा और अन्त में खुद भी विदा ले गए। उन्होंने 'विदा' शीर्षक से स्थाई स्तम्भ बनाकर मासिक पत्र के प्रत्येक अंक में दिल के गुब्बार झाड़े, मगर लापरवाह इस बात का जीता जागता गवाह है, कि इन तथाकथित विद्वानों ने उसी रस्सी से आत्महत्या कर ली जिससे वे अन्य

लोगों को फांसी के तख्तों पर लटकाया करते थे। कुदरत ने उन्हें अपने किए गए अनाचार का पाई पाई का ऋण वापिस अदा किया।

अधकचरे, बुद्धि के अहंकार में विक्षिप्त और कर्मठता का स्वतः ही प्रमाण–पत्र हासिल करनेवाले ऐसे लोगों ने अपनी शासन करने की हविश को बखूबी पूरा किया। उन्हें यह अहंकार हो गया, कि लोग जो उसका शासन मान रहे हैं, उसका कारण उनकी अजेय और अद्वितीय योग्यता है न कि शासन मानने वालों के श्रेष्ठ संस्कार। शासन करना इतना कठिन नहीं है जितना शासन को मानना। दुनिया के हर कोने में ऐसे लोग मिल जायेंगे जो धुंआधार आज्ञाएं दे सकते हैं, आज्ञा पालन न करने वालों को दण्डित कर सकते हैं और अधिक नहीं तो कुछ समय तक अपनी दुकान को बिना किसी आंच के चला सकते हैं, लेकिन ऐसे लोग इने गिने ही होंगे जो दूसरों को बरदाश्त कर सकें, उनके शासन को सर्वात्मना स्वीकार कर सकें और जो किसी के बताए मार्ग पर बिना बहस किए चल सकें। लापरवाह ने इस कोटि के लोगों को केवल वहीं देखा है, जहां इस प्रकार के गुणों का अनवरत अभ्यास हो, जहाँ इस प्रकार के निरन्तर संस्कार डाले जाते हों। इस नवजागरण में भी उपरोक्त तथाकथित विद्वान कभी–कभी निकल आते हैं, क्योंकि अच्छी से अच्छी स्कूल के विद्यार्थी भी कुछ न कुछ तादात में असफल होते ही हैं। जिस किसी में ऐसे विकार पैदा हुए, वे वहाँ नहीं रहे, लगातार विदा लेते गए।

तमाशा सबसे बड़ा यह, कि विदा लेने वालों ने ही विदा के कारणों की जांच की। लेख लिखे गए, विचार गोष्ठियां आयोजित की गई, प्रश्न था लोग विदा क्यों लेते हैं ? विदा लेने वालों ने एक मत होकर विदा देने वालों को दोषी ठहराया और विदा देने वालों ने विदा लेने वालों को दोषी ठहराया। लापरवाह उनके सभी तर्कों में जाना नहीं चाहता क्योंकि वह विदा को कायरता,कर्तव्य हीनता और वचन भ्रष्टता मानता है। जो भाग चुका है उसे भागने के कारणों का निवारण महत्त्वपूर्ण नहीं लगता, महत्त्वपूर्ण उसे केवल अपना बचाव लगता है। जो कठिन परिस्थितियों में संघर्ष करने की जोखिम नहीं उठा सकता उसे कोई अधिकार नहीं कि वह अपनी कायरता के विषय में लोगों को स्पष्टीकरण दे। संसार साधना भूमि है, कर्मभूमि है, भागने वाला दोषों का विरोधी होता तो दोषों को उखाड़ता, साधना और कर्म से कभी विमुख नहीं होता। दूसरी ओर रहने वालों के तर्क अकाट्य और महत्त्वपूर्ण अवश्य हो सकते हैं, बशर्ते कि वे भागने वाले के प्रति कुण्ठा से ग्रस्त न हों।

शुद्ध तर्क द्वारा लापरवाह ने इस सम्बन्ध में तत्वचिन्तन किया है। उसे परवाह नहीं, कि कोई उसकी बात माने या न माने, लेकिन अपने लिए तो समाधान मैंने निकाल ही लिया है, और वह इस लापरवाह के लिए युक्तिसंगत,विवेक सम्मत और अन्तिम प्रतीत होता है लीजिये तो इसका भी विश्लेषण सुन लीजिये।

नैतिक और सामाजिक नियम कठोर होते हैं, ये हमारी स्वच्छंदता और स्वतन्त्र उपभोग वृत्ति में बाधा पहुँचाते हैं फिर भी हमें समाज के उन नियमों को अंगीकार करना पड़ता है। संसार और समाज से दूर होने पर यह नियम हम पर आवश्यक नहीं हैं लेकिन जब तक समाज में रहेंगे उन्हें मानना ही होगा। उपरोक्त नियम हमारी इच्छा द्वारा स्वीकार्य नहीं, समाज की इच्छानुसार हम अपने ऊपर लेते हैं। क्योंकि हम समाज से अपना सम्बन्ध बनाए रखना चाहते हैं और बदले में समाज के बन्धनों को स्वेच्छा से अंगीकार करते हैं।

समाज की यह आवश्यकता नहीं है, कि हम समाज के अंग बने रहें बल्कि यह हमारी आवश्यकता है कि हम समाज के अंग बने रहें। जो समाज से पृथक, दूर एकान्त में अपना जीवन व्यतीत करता है, समाज उसके साथ समझौता वार्ता नहीं चलाता, कि तुम नहीं आओगे तो समाज समाज नहीं रहेगा। मूल रूप से समाज स्वयं हमारी आवश्यकता है। उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं है। हम सब समाज के बन्धनों को अंगीकार करते हैं, तो हमें सहयोग,उसके संस्कार, उसकी रक्षण क्षमता की परोक्ष या अपरोक्ष रूप से आवश्यकता होती है इसीलिए घाटा सहकर, त्याग का आवरण करके भी हम उसके बने रहना चाहते हैं।

इस मूल सिद्धान्त को लापरवाह कुटुम्ब पर भी लागू कर सकता है और संघ–संस्था पर भी। हम किसी संस्था में प्रवेश इसलिए करते हैं कि उक्त संस्था द्वारा हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। जो अपनी किसी आवश्यकता की पूर्ति संस्था से नहीं मानता, केवल शुद्ध त्याग और परोपकार की वृत्ति से संस्था पर अहसान करने के लिए ही उसके नियम–अनुशासन अंगीकार करता है, वह एक न एक दिन संघर्ष की कठिन घड़ियों में विदा लेकर ही रहेगा। विदा से पहले वह अवश्य चाहेगा, कि उक्त संस्था अपने मापदण्ड बदल कर उसकी व्यक्तिगत मान्यताओं को अंगीकार कर, जैसा वह चाहता है वैसी बन जाय। अपनी मान्यताओं को तर्क की अनोखी माया द्वारा हम पर लादने का भी यत्न करेगा। जो संस्था मुड़ जाएगी वह अपना स्वरूप स्थिर नहीं रख सकेगी, केवल संख्या के लोभ में अपनी गुणग्राहकता खो देगी। अन्ततोगत्वा वह समाप्त ही होगी।

संघर्ष में अपनी मान्यताओं और विचारों के अनुकूल जो लोग संस्था को मोड़ना चाहते हैं, उनके लिए वैसा करना असम्भव तो नहीं,कठिन जरूर है। क्योंकि अपने विचारों और मान्यताओं के अनुरूप संसार का सृजन और शिक्षण उत्कट अध्यवसाय, निरन्तर कर्म प्रवाह और शुद्ध विवेक शक्ति के बिना असम्भव है। विदा लेने वालों में यदि यह शक्तियाँ होती तो वे विदा ही नहीं लेते, अपनी उन अजेय शक्तियों द्वारा दुनिया को अपनी इच्छानुसार मोड़ ही डालते। शक्तियों के न होते हुए भी उन्हें शक्तिमान होने का मिथ्या भ्रम भूत की तरह सदैव सताया ही करता है और वे अब तक की समस्त सामाजिक उपलब्धियाँ केवल अपने परिश्रम का फल मानते हैं। ऐसे गुमराह तथाकथित विद्वानों की यदि दुर्गति हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

लापरवाह तो केवल यह जानता है, कि यदि उसे साधना पथ से उसकी मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति होने का विश्वास है, तब उसे साधना के सभी नियमों को, चाहे वे कटु हों, अथवा रुचिकर, अंगीकार करना ही चाहिए। यदि वैसा विश्वास नहीं है तो उसे अपना सम्बन्ध बहुत पहले ही पृथक कर लेना चाहिए था और अब भी वैसा करने के लिए अक्षम्य देरी नहीं हुई है। लापरवाह अपने कुटुम्ब में भी तो वही बात देखता है, अपने बीमार परिजन की वह मनोयोग से सेवा करता है, रात–रात जागकर उसकी छोटी से छोटी आवश्यकता की पूर्ति करता है। इस सेवा के बदले में लापरवाह को एक सुरक्षित कुटुम्ब मिलता है, जिसके सामूहिक रक्षण, मार्गदर्शन और संस्कारों ने लापरवाह के जीवन को जीने लायक बना दिया है। मैं उन अहंकारी तथाकथित पण्डितों की मायावी नियम पद्धति में कत्तई विश्वास नहीं करता, कि थाली को जो अन्त में उठे वही मांजे। यदि मेरे पिताजी मेरे साथ होंगे और मैं उन्हें यदि इसी नियम का पालन कराने के लिए झूठी थाली मांजने के लिए दूंगा तो मैं न केवल उनकी मजाक उड़ा रहा हूँ, बल्कि मेरी और उन नियमों की भी आत्मा का हनन कर रहा हूं। इसलिए लापरवाह ने यही सोच रखा है, चाहे कष्ट मिले चाहे खुशी, चाहे अच्छा लगे अथवा बुरा, मुझे मेरे आचार्य, गुरुजनों एवं पूर्व मार्गी पथ प्रदर्शकों की बात सही लगे या गलत, यदि मैं उनसे अपना कल्याण चाहता हूँ, तो उनकी आज्ञा पालन करनी ही होगी, इतना ही नहीं उनके सर्वथा अनुकूल भी होना होगा।

जो लोग यह बात नहीं समझ पायेंगे, वे अपने आपको भले ही विद्वान कह डालें, इसमें लापरवाह को कोई एतराज नहीं है, पर वे साधक कभी नहीं रह सकेंगे। साधना क्षेत्र से तो उन्हें एक न एक दिन विदा लेनी ही पड़ेगी।

लापरवाह के सामने आज भी कोई कह सकता है, कि क्या ऐसा करने के बाद तो विदा लेने वाले नहीं रहेंगे ? उन्हें लापरवाह यही कहेगा,– कोई भी विदा अन्तिम विदा नहीं है, कोई भी जीत अन्तिम जीत नहीं होती और कोई भी हार अन्तिम हार नहीं हो सकती। उपरोक्त विचार दर्शन को अंगीकार करने के बाद लापरवाह को दृढ़ विश्वास है कि विदा मांगने वालों का प्रतिशत आश्चर्यजनक रूप से कम पड़ जायेगा, बहुत सम्भव है पचासों वर्षों में कोई एक आध विदा ले, पर विदा कोई लेगा ही नहीं, ऐसी बात नहीं। हममें से हर एक आदमी उतना ही नीचा गिर सकता है जितना कि हम से पूर्व में विदा लेने वाला साथी उस समय गिरा होगा। नीचे जाने के हजारों रास्ते हैं पर ऊपर जाने के लिए केवल एक आध मार्ग ही है। बहुत सम्भव है भविष्य में विदा लेने वाले नये द्वारों को खोल कर निकल भागें अथवा नये गड्ढे खोदकर उसमें जम जाएं– यह तो अपनी अपनी विवेक बुद्धि, संस्कार और अनुभवों पर निर्भर करता है, परन्तु जहाँ तक लापरवाह का सम्बन्ध है, उसे अपना सात्विक संकल्प याद है, उस ओर जाने के मार्ग का ध्यान है और इसके लिए वह किसी भी त्याग को बड़ा कहकर नहीं पुकारता और इसीलिए मैं अपने विषय में घोषणाापूर्वक कह सकता हूँ, कि यदि विदा लेना यहां अनिवार्य नियम है, तो यह लापरवाह वह आखिरी व्यक्ति है, जो सबके अंत में इस नियम का पालन करेगा। बहुत सम्भव है, उससे बहुत पहले वह अपने प्रिय प्राणों को ही विदा दे चुका होगा।

प्रकरण : दस

तरीका

सभी नदियां समुद्र में मिलती हैं, पर जो इस सत्य को जानती हैं, वे स्वेच्छापूर्वक चेष्टा भी इसी दिशा में करती हैं शेष या तो प्रकृति द्वारा विवश होकर बिना प्रतिरोध किए जड़ उपकरण की भांति समुद्र में आ मिलती हैं अथवा उससे असफल संघर्ष करती हुई किसी गड्ढे–तालाब को भर कर सोचती है कि उसने संघर्ष में सफलता प्राप्त करली है। दुर्भाग्य से वह इसी को साधना गत संघर्ष भी मानती है।

नदियां तो क्या जल का प्रत्येक कतरा उसी होनहार से प्रेरित होकर आदि काल से यही प्रक्रिया करता आ रहा है। जिन्हें इस होनहार का ज्ञान नहीं उनका प्रतिरोध, संघर्ष और भटकना स्वाभाविक है, किन्तु जानबूझ कर जब कोई नदी या बूंद समुद्र की ओर न जाकर अपनी इच्छित दिशा की ओर जाती है तो लापरवाह को भी आश्चर्य होना स्वाभाविक ही तो है।

लापरवाह की यह मान्यता है, कि नदी और कतरे की यह चेष्टा प्रकृतिगत मायामय उस सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता की भावना की चेष्टा है, जिसने मानव जीवन को प्रगति का रास्ता भी बताया और भटकाया भी है। जीवन की आखिरी मंजिल पर जाकर ही सही निर्णय कर सकेगा कि उसकी उक्त स्वातंत्र्य भावना ने उसे भटकाया भी है किन्तु अन्त में रास्ते भी लगाया है। रास्ते लगाने में उक्त भावना का जितना श्रेय नहीं उतना मानव की मूल प्रकृति को है जो स्वभावतः जिज्ञासु एवं सत्यान्वेषी है। यह ध्रुव, अनादि व अनन्त सत्य है, कि पानी की प्रत्येक बूंद को एक न एक दिन उस समुद्र में मिलना ही होता है जिससे वह बूंद के रूप में सर्वप्रथम आकार धारण कर प्रगट हुई थी। इस सिद्धान्त के विरुद्ध जलबिन्दु की कोई भी चेष्टा व हठ, दुराग्रह ही कहलायेगा।

जल बिन्दु की भांति जब मानव जाति भी चेष्टा करे कि वह अपनी अन्तिम मंजिल में मिलने के बजाय उससे रक्षा करती रहे तो लापरवाह को मानव जाति की इस तथाकथित स्वातंत्र्य भावना पर दया भी आती है और क्षोभ भी होता है। पर सत्य तो सत्य ही है। मनुष्य ने खोज भी बहुत की है किन्तु वह भुलक्कड़ भी उतना ही है। वह प्राप्तियों पर प्राप्तियां करता जाता है और अज्ञान में बद्ध होकर उन प्राप्तियों से लाभ नहीं उठाता। ठीक जल बिन्दु की भांति ही मानव समुदाय को उसके क्रियाकलाप में लापरवाह ने बड़ी सूक्ष्मता से पढ़ने की चेष्टा की है।

उसके सारे विरोध और अहंकार उसकी अन्तिम सामञ्जस्य और निरहंकारी अवस्था की ओर उसे अनजाने ही ले जाते हैं, पर न तो वह उनको अर्थ प्रदान करता और न परिणामों से सन्तुष्ट ही होता। भूलकर भी वह उसी राह की ओर जाता है क्योंकि सभी राहें अन्तिम मंजिल के सिवाय और कहीं समाप्त नहीं होती। अन्ततोगत्वा जब मानव या उक्त जल बिन्दु को अन्तिम समाधान होता है, तब वह उसी राह से बढ़ने की चेष्टा करता है और अपनी भूलों को दस कदम आगे बढ़कर कान से पकड़ता है।

लापरवाह इस क्रिया को आशा की दृष्टि से देखता है। वह इस भटकने को केवल एक 'तरीके' की संज्ञा देता है और इसीलिए आज तक उसने जितने तरीके देखे हैं, उनका संक्षेप में संस्मरणात्मक विवरण दे रहा है। उपरोक्त कारण के फलस्वरूप ही जल के प्रत्येक कतरे ने भी समुद्र में मिलने की अपनी अपनी अलग तरकीबें निकाल रखी हैं, शायद उनका इस दृष्टि से यही ख्याल है, कि समुद्र से कहीं बड़ी उनकी वह 'तरकीब'–प्रणाली है। स्पष्ट है, कि इस मान्यता के पीछे उनकी आत्महीनता की दयनीय भावना ही है। वे जल की लहरें जो समुद्र–मिलन की अपेक्षा किनारों के साथ किल्लोल करने में मग्न होकर यह सोचती हैं कि वे उनकी सामान्यता में न खो जायं, आखिर समुद्र बहुत दूर होने से उन्हें नहीं देख पाता तो कम से कम किनारे तो उन्हें अवाक बन कर देखें। अन्तिम मन्जिल के अदृश्य रहने पर वे किनारों के समक्ष विलास–क्रीड़ा में ही अपना पुरुषार्थ समझती हैं। लहरों की भांति कुछ कतरे भी ऐसे होते हैं जो अपने अपने नदी के जल में आत्मसात करना भी अच्छा नहीं समझते। वे पत्थरों पर अपने आपको बिखेर कर प्रसन्न होते होंगे, धारा में मिलने के बजाय वह आत्महत्या भरा कृत्य उन्हें अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की मान्यता की पुष्टि करता है। किन्तु लापरवाह ने जब बड़ी गंभीरता से दुनिया के इस स्वातंत्र्य सिद्धान्त पर विचार किया तो उसे प्रतीत हुआ कि संसार बहुत बुरी तरह से पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है और उसके पास केवल यही विकल्प है, कि वह एक खिलाड़ी की भांति इस अक्षमता को स्वीकार करले। इससे जितना हम मुक्त होने का प्रयास करते हैं, उतना ही अपने आपको धोखा देने के सिवाय और कुछ नहीं कर रहे हैं।

जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य सोचता है, कि वह स्वयं एक स्वतन्त्र हस्ती है और इसी से वह संसार में अपना पृथक और नया इतिहास बनाना चाहता है जो दुनिया के इतिहास से सर्वथा विलक्षण और अप्रभावित हो, किन्तु उस पर नियन्त्रण करने वाली ईश्वरीय शक्ति यह अच्छी तरह जानती है कि वह कितना अज्ञानी व विवश पात्र है, कि जिस वस्तु को नहीं चाहता वह उसे अन्य तरीकों से बरबस पूरा कर रहा है। लापरवाह यह जानता है, कि दुनिया वाले अपनी प्रशंसा और वाहवाही के लिए अथवा अपनी

साधारणता व विलक्षणता का जनसमुदाय को परिचय देने के लिए भिन्न–भिन्न तरीके अपनाते हैं किन्तु मैं स्वयं इन सभी तरीकों में सबसे सीधा और उपयुक्त तरीका यही मानता हूँ कि तरीकों के तरीके खतम कर दिये जांय और सत्य को जैसा है, उसी रूप में बिना अहंकार ग्रहण किया जाय। प्रत्यक्ष रूप में यदि वह हमारी रुचि के अनुकूल न भी हो तब भी उस सत्य को अंगीकार करने के सिवाय हमारे पास कोई चारा भी तो नहीं है।

इससे पहले कि लापरवाह उन भिन्न–भिन्न तरीकों का वर्णन करे यह उचित होगा कि वह अपने उस तरीके का जिक्र करले जिससे वह सत्य को यथा रूप और सामान्य तौर पर ग्रहण करता आ रहा है। इसे लापरवाह सब तरीकों का अन्तिम और एक मात्र तरीका मानता है।

लापरवाह सत्य को सत्य देखता है, उसे अनावश्यक रूप से सत्य को चारों ओर से लपेटने की तथाकथित कला की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। वह सत्य को अनुभव करने के उपरान्त किसी भी विपरीत सत्य से डिगने वाला नहीं। वह विपरीत सत्य वास्तव में असत्य ही है और इसीलिए उसने इस दुनिया में आकर देखा है कि जब सभी नदियां एक समुद्र की ओर मिल रही हैं, तो क्यों नहीं स्वयं भी मन–वचन–कर्म से उसी ओर प्रवाहित हो जाऊं और उसी में मिलने का अपना अन्तिम लक्ष्य निर्धारित करलूं। इसीलिए लापरवाह के मार्ग में जब कभी कोई कीर्ति–यश आदि की लिप्सा बाधक बनकर आती है तो वह उन्हें निर्भयतापूर्वक ठुकरा कर उसी राह को अंगीकार करता है, जो राह मिलन की राह है। वही राह है–पूर्णतया आत्मसात होने की राह। वह जानता है, कि जब उस अन्तिम स्थान पर पहुंचे बिना किसी को शान्ति और सन्तोष नहीं मिलता, तो लापरवाह क्यों उन तथाकथित विशेषताओं की ओर भटक जाय ?

लापरवाह के जीवन में भी अनेक चढ़ाव उतार आए; अनेक रंगबिरंगे आकर्षक तत्व भी दृष्टि–क्षितिज की रेखा पर उभरे, लेकिन किसी ने अथवा सबने मिलकर भी लापरवाह के निश्चय को नहीं भटकाया है। वह अपने गन्तव्य स्थान की ओर निर्लिप्त भाव से बिना प्रशंसा और आलोचनाओं की परवाह किये, बिना प्रेरणा और विरोध की परवाह किए, लगातार बढ़ता ही जा रहा है। उसे एक–एक कदम बढ़ाने के साथ जिस अद्‌भुत प्रेरणा और सामञ्जस्य का साक्षात्कार हो रहा है, वह स्वयं उस मार्ग की सारी थकान को मिटा देती है। वह प्रेरणा स्वयं ही ज्ञान के समस्त पर्दों और रहस्यों को खोल–खोल कर लापरवाह के समक्ष उद्‌घाटित करती जाती है।

अब लापरवाह उन तरीकों का वर्णन करेगा जो उसने अपने अनुभव से देखे हैं। अधिकांश इस कोटि के लोग होते हैं, जो काम किये जायेंगे, आज्ञा

का पालन किये जायेंगे लेकिन यह स्वीकार करने का जहाँ प्रश्न आया कि इसी सत्य को स्वीकार करलो तो वे अड़ जायेंगे। संसार में ऐसे लोगों का बहुमत है, जो काम तो करते रहेंगे किन्तु समझ से नहीं करेंगे। पर लापरवाह बड़ी स्पष्टता से देखता है, कि वे कर्म और उपासना उसी परम सत्य की करते हैं किन्तु चिंतन का अभाव और अहंकार के कारण अपनी अर्चना को अर्चना न मानकर एक स्वतन्त्र पुरुषार्थ की संज्ञा देंगे।

दूसरी कोटि के ऐसे लोग भी देखे हैं, जिनकी बुद्धि कुछ भी कहती फिरे, वे कुछ बातों को बड़ी मजबूती से पकड़ लेते हैं । उनकी पकड़ इतनी मजबूत होती है, कि बुद्धि के कोटि–कोटि संशय भी उन्हें कर्म विमुख नहीं कर पाते। अन्ततोगत्वा वे भी साधना के उसी समुद्र में मिलते हैं क्योंकि सभी धाराएं वहीं पहुंचती हैं। अन्तिम स्थान पर पहुंच कर फूले नहीं समाते, उन्हें असीम सन्तोष और सुख की प्राप्ति होती है।

लेकिन लापरवाह की नजरें हमेशा कुछ अनोखी कोटि के लोगों पर आकर ठहरती हैं जो केवल अपने आपके सिवाय किसी को सही मानने की उदारता नहीं कर सकते। सत्य के उपासक होकर भी वे प्रोफेसर तोताराम की भांति इतने उद्दण्डी हो जाते हैं, कि न तो अपनी उद्दण्डता उनसे छूटती और न उस सत्य से ही दूर रहना चाहते। ऐसे लोग दूर रहकर भी हमारे हितैषी होने का दावा करते रहते हैं और भीतर ही भीतर इस बात के लिए भी कुढते रहते हैं कि उनके दावे को स्वीकार क्यों नहीं किया जाता। लापरवाह ऐसे मानसिक दुर्बलताओं से भरे अर्द्धविक्षिप्त लोगों पर दया भी करता है और मन ही मन उसे हंसी भी आती है। क्या किया जाय ? जो स्वयं अपनी कब्र खोदकर उसमें केवल इसलिए दफन होना चाहते हैं, कि लोग उन्हें दफन होने से रोकें। लापरवाह को क्या पड़ी है, जो जानबूझ कर मरने वालों के बीच पड़कर उनका बीच बचाव करे।

हीनता की भावना के सिवाय कुछ ऐसे भावों वाले भी लोग होते हैं, जिनका स्वभाव ही गाली गलौच का बन गया हो। बैलगाड़ी के नीचे चलता हुआ कुत्ता यह सोचने लगता है, बैलगाड़ी ही नहीं सूर्यचन्द्र भी उसी की शक्ति से गति पाकर चल रहे हैं। उन्हें जब इस सत्य का भान होता है, कि दुनिया उनके प्रति लापरवाह है, क्योंकि उनकी यथार्थ में कोई हस्ती नहीं, तब वे बुरी तरह बौखला कर जो कुछ है, उस सभी का विरोध करने पर उतारू हो जाते हैं। उसके बाद तो उन्हें नागराज की भांति केवल जहर उगलने के और कोई काम नहीं रहता। लापरवाह इन सभी पर दया करता है। ये बेचारे अपने अपने बनाये हुए मकड़ी के जालों में खुद शिकार हैं। प्रकृति ने बहुत अच्छी तरह से उनके सामने सत्य खोल–खोल कर रख दिये मगर अब वे इस स्थिति में ही नहीं रहे, कि उन सत्यों

पर चिंतन मनन ही कर सकें।

इन सबसे विलक्षण कोटि एक और होती है जिसमें 'पंछी' जैसे लोग होते हैं। संघशक्ति के पाठकों को 'पंछी' से परिचय होगा ही क्योंकि दो वर्ष तक लापरवाह ने पंछी की रामकहानी को दिलचस्पी से पढ़ा है। उसकी सूझ–बूझ,उसके आक्षेप और विश्लेषण के तरीके अद्वितीय थे। शायद कोई भी व्यक्ति इतनी करारी और स्पष्ट चोटें नहीं कर सकता। किन्तु लापरवाह ने 'पंछी' की रामकहानी पढ़ी ही नहीं, देखी भी है। पंछी लिखता कुछ था, करता उसके बिलकुल विपरीत था। उसकी रामकहानी पढ़कर मुझे लगता था जैसे यह व्यक्ति जर्रे जर्रे और शब्द शब्द के विरुद्ध है मगर हकीकत कुछ और थी। वह जिसका विरोध करता था उक्त व्यक्ति, सिद्धान्त अथवा पद्धति से पंछी भिन्न नहीं था। हैरत में पड़ गया लापरवाह ! शायद पाठक भी यह समझेंगे कि मैं क्या कह रहा हूँ।

पंछी की रामकहानी के बाद मुझे उपासना का नया तरीका हाथ लगा और वह था विरोध द्वारा सामञ्जस्य प्राप्त करना । इस दुनिया में कुछ इस कोटि के दिलचस्प और विलक्षण लोग होते हैं, जो कहते कुछ और हैं और होते कुछ और हैं। वे बुराई जिसकी करते हैं उसे दिल से चाहते हैं। यह मैंने पंछी के जीवन से सीखा। उस दिन से लापरवाह ने विरोध से घबराना बन्द कर दिया क्योंकि यह भी उपासना का एक तरीका ही उसे लगा। चाहे यह तरीका बड़ा अटपटा और आत्मविरोधी लगता हो पर सिद्धान्ततः सही है। रावण राम का विरोध करते हुए भी ईश्वर का भक्त था। वह भगवान के हाथों रणक्षेत्र में मारा जाना चाहता था लेकिन साधारण लोग इस उच्च कोटि की बात को स्वीकार नहीं कर पाते। वे तो केवल रावण के विरोध तक ही सीमित रहते हैं।

लापरवाह ने यही देखा है, कि विरोधी भी अन्त में इसी सत्य का समर्थन करता है, किन्तु शब्द से नहीं! शब्द से वह कभी समर्थन कर नहीं सकता, गुर्राना उसका स्वभाव है। शेर जब शेरनी से प्रेम प्रकट करेगा तब भी गुर्रा कर ही करेगा। वह खिलखिला कर हंसेगा तब भी गुर्राहट ही सुनाई देगी। इसीलिए लापरवाह अब निश्चिन्त हो गया है, कि विरोध और समर्थन तो प्रकृति की विलास लीलाएं हैं। यह ईश्वर की माया–मय शक्तियों की वेग जन्य आकृतियों के सिवाय कुछ नहीं। छाया को लापरवाह सत्य नहीं मानता। लापरवाह तो सीधा तरीका जानता है, कि ईश्वर की उपासना का अर्थ ईश्वर की शरण में जाना है और शरण जाने में कपट अथवा कूट वाक्यों का क्या प्रयोजन ? अब लापरवाह ने इसी सत्य को मान लिया है और वह अगले दो प्रकरणों में अपनी सारी उछलकूद को प्रगट कर देगा। अब उसे आत्मोद्घाटन की आवश्यकता अनुभव हो रही है।

प्रकरण : ग्यारह

पंछी

पिछले प्रकरण में लापरवाह ने उन तरीकों का वर्णन किया था, जो उसने अपने अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष किये हैं। उसने यह भी स्वीकार किया था, कि सबसे बड़ा तरीका सरलता का है। कुटिलता और कूटनीति किसी का हित नहीं कर सकती। यह निर्बल राजनीतिज्ञों का धोखे भरा हथियार है। साधना की दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं। लापरवाह ने जब कभी सरलता और तत्परता से किसी तथ्य को स्वीकार किया है, उसे अपने मार्ग में न केवल सात्विक आनन्द की ही अनुभूति हुई बल्कि उसे अन्तश्चेतना की दुर्लभ प्रेरणा भी हासिल हुई। इसीलिए लापरवाह ने पिछले प्रकरण में अपनी आत्मोद्घाटन की आवश्यकता अनुभव की थी।

किसी बात को सरलता से स्वीकार करने में हमें जो स्वाभाविक झिझक होती है उसके पीछे या तो लज्जा का भाव होता है अथवा भय का । भय को भगाने का एक ही उपाय है, कि भय से भयभीत होना छोड़ दिया जाय। भयभीत हम तब होते हैं, जब अपनी असुरक्षा का भाव हमें सतर्क होने के लिए प्रेरित करता है। यही सतर्कता हमें संशयी, दुर्बल मनोवृति प्रधान और धीरे धीरे अविश्वासी बनाती है। लापरवाह सतर्कता को निरर्थक नहीं मानता। शत्रु से जो सतर्क नहीं है, वह मारा जायेगा। अवगुणों और अपने ही पतन के प्रति जो सतर्क नहीं है वह दुःसाहसी है। लेकिन शत्रु के अतिरिक्त मित्र और हितैषी से भी सतर्कता रखना लापरवाह को निरर्थक लगता है। उससे भी बढ़कर उसके प्रति सतर्कता, जिसकी छत्रछाया में हमें ज्ञान, लाभ और जीवन दर्शन प्राप्त हो, निरी मूढता भरी वृत्ति है। रक्षक से हमें असुरक्षा है, तो सुरक्षा प्रदान करने वाली हस्ती इस संसार में दूसरी कोई हो ही नहीं सकती। अतः सुरक्षा की भावना का उस व्यक्ति के प्रति सम्बन्ध के दौरान कोई मूल्य नहीं है, जिससे एकमात्र सुरक्षा की हम आशा करते हैं।

सरलता से स्वीकार करने के मार्ग में दूसरी बाधक प्रवृति है, लज्जा। लज्जा के मूल में एक हीनता है। जो लोग महान कार्य करने के लिए प्रवृत होते हैं, वे निम्न स्तर के कार्यों में लज्जित हो सकते हैं, किन्तु जिस कार्य को लक्ष्य रूप में स्वीकार करते हैं उसमें लज्जा किसी भी प्रकार से अनुभव नहीं

करते। अपने अन्तर्यामी से लज्जा करता है, वह भी मूर्ख है और डाक्टर के पास जाकर अपना रोग बताने में लज्जित होता है, वह भी बेकार आदमी है। लज्जा का लापरवाह सर्वथा बहिष्कार नहीं करता, लेकिन लज्जा करनी चाहिए वहां निर्लज्ज होना तथा जहां लज्जा रहित सत्य व्यवहार करना हो, वहां लज्जित होना, ये दोनों ही दोष हैं।

लापरवाह ने अधिक सूक्ष्मता से जब इन प्रवृतियों का विश्लेषण किया तब उसे यह लगा कि हमें अपने प्रिय सम्बन्धी से न लज्जा होती है और न भय । जितना ही सम्बन्ध मधुर होगा, उतना ही भय और लज्जा कम होंगे। इस दृष्टि से स्पष्ट शब्दों में यह कहा जाय कि हम उसी से लज्जा करते हैं और उसी से भयभीत होते हैं, जिससे हम घृणा करते हैं। आवश्यक नहीं कि बड़े बड़े विचारक मेरी इन मान्यताओं से सहमत हों; लापरवाह को उनकी परवाह भी नहीं पर लापरवाह यह सिद्धान्ततः स्वीकार कर चुका है कि सरलता और निष्कपटता स्वयं अपने भीतर बहुत बड़े गुण हैं और उनके बिना मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति असंभव है।

अब नवीन दृष्टिकोण से जब लापरवाह ने चारों ओर देखा तो उसे महसूस हुआ कि लगातार अठारह वर्षों से जो आत्मयज्ञ का अनुष्ठान हो रहा है उसमें और कुछ नहीं तो देश, जाति और मानवता के लिए कुछ ऐसे ईमानदार, स्पष्टवादी और सरलचित्त लोग तैयार हुए हैं, जिन पर कोई भी कौम विश्वास कर सकती है और गर्व भी कर सकती है। जीवन का एक भी दिन, शक्ति का एक भी अणु, द्रव्य का एक भी पैसा और हृदय का एक भी पवित्र भाव छिपाए बिना जो लोग निरन्तर साधना में प्रवृत्त हैं, वे न केवल स्वयं पवित्र और ईश्वरीय अनुकम्पा से परिपूर्ण हो चुके हैं बल्कि जहां कहीं रहते हैं उनके चारों ओर शनैः शनैः ईश्वरीय शक्तियां अपने अचिन्त्य खेल खेलने को आतुर हो उठी हैं। भौतिकवाद की प्रतिद्वन्द्विता—पूर्ण इस दौड़ भाग में त्याग और तपस्या की जो तेजस्विता धारण किये हुए हैं उनके आधार में उनकी सरलता ही उनका बहुत बड़ा गुण है। इन सबके बीच लापरवाह जब आत्मचिन्तन का कष्ट करता है, तो लगता है जैसे वह इनसे सर्वथा भिन्न, अपने आपके प्रति घोर लापरवाह हो रहा है। लापरवाह का यह प्रारम्भिक संकल्प था, कि वह दुनिया के प्रति लापरवाह हो सकता है पर अपने प्रति नहीं और इसीलिए उसने अपनी इस लेख माला के अन्त में जाते जाते सरलता और निष्कपटता पूर्वक अपनी बात कहने की ठान ली।

पहली बात तो यह कि यह पंछी कौन था ? क्या वह लापरवाह का मित्र था ? जैसा उसने पहले लिखा है। नहीं, पंछी और लापरवाह में कोई अन्तर

नहीं। दोनों की राम कहानी पढ़ने वालों को घोर आश्चर्य होगा लेकिन शायद अधिकांश लोगों को नहीं होगा क्योंकि अब यह प्रकट रहस्य है। तथापि लापरवाह कह देना चाहता है, कि पंछी और लापरवाह में कोई भेद नहीं है। फिर सहज ही प्रश्न उठेगा तब फिर यह भिन्न भिन्न नामों की क्या आवश्यकता थी और क्यों परस्पर विरोधी लेख लिखे गए।

पहले पंछी और बाद में लापरवाह शीर्षकों से भिन्न लेख लिखने का अभिप्राय यही था, कि पंछी मेरी मनःस्थिति और चरित्र का एक पहलू है और लापरवाह उसका दूसरा पहलू। दोनों ही अवस्थाओं में एक तटस्थ प्रेक्षक बनकर मैंने अपने दोनों पहलुओं को पाठकों के सामने रखा है। आवश्यक नहीं, कि जो कुछ लिखा गया वह निजी विचार ही हो। कम से कम पंछी के रूप में तो मैंने अपनी समस्त भलमनसाहत एक ताक पर रख कर जिस बुरी तरह और बाजारू ढंग से विरोध किया जा सकता था, किया है। उसके कारण एक नहीं अनेक हैं। पहला कारण यह है, कि बिना विरोध हुए किसी वस्तु को अन्तिम सत्य की अवस्था पर पहुंचाना कठिन है। यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि उसे शुरू से ही कोई शंका नहीं थी, तो बाद में कभी न कभी शंका पैदा होने दो और यदि उतने समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते तो स्वयं शंकाएँ पैदा कर उनका समाधान करो। विश्वस्त रूप से मंजिल पर लम्बी यात्रा के लिए यह अनिवार्य प्रयोग है। अब प्रश्न आयेगा समाधानों का। कुछ तो पंछी ने स्वयं अपने ही लेखों में समाधान किया है, कुछ लापरवाह ने अप्रत्यक्ष समाधान किये हैं और शेष समाधान छोड़ दिये हैं, ताकि वे किसी और पात्र द्वारा समाधान किये जावें। इस पर अगले प्रकरण में कुछ लिखूंगा।

एक अन्य कारण यह भी है, कि समर्थन और विरोध दोनों ही हमारे भीतर रहते हैं। सच्चे अर्थों में हमारे लक्ष्य और संकल्प का हमारे सिवाय कोई विरोध नहीं करता। हम किसी विरोधी की दलील के प्रति जब कभी नरमदिल होते हैं उसका स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि वह हमारी ही शंका है। जिनका समाधान हो चुका हो, उनका विरोध कोई भी करे, हम पर प्रभाव नहीं पड़ेगा; लेकिन जो शंका कभी हमारे विचार क्षेत्र में आई ही नहीं और विरोधी द्वारा अचानक सामने लाई जाती है तब हमारा झुकाव भी उस ओर स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि विरोध या शंका का बीज तो हमारे भीतर पहले ही से था किन्तु विरोधी के प्रश्न के जल से वह अंकुरित हो गया। अतः विरोधी कुछ भी कहे, असल में हमारे सिवाय हमारा हितैषी कोई नहीं और हमारे सिवाय हमारा शत्रु भी कोई नहीं, यह भीतर का शत्रु सहज रूप में बाहर नहीं आता। उसे बाहर आने के लिए ललकारोगे तो वह दब जायेगा। सीधा

तरीका यह है, कि उसे बहला–फुसला कर बाहर निकालो और जब वह बाहर आ जाय तब उस पर भरपूर वार कर उसका संहार करो। अपने अन्दर के शत्रुओं से इसी प्रकार लोहा लिया जा सकता है। किन्तु साधारण साधक और जनसमुदाय में वह युक्ति अथवा साहस नहीं होता कि भीतरी शत्रु को इस प्रकार ललकारे और इसीलिये पंछी के रूप में लापरवाह ने यह अप्रिय कर्तव्य किया। उसने अनेक विरोधी लोगों को अपने घट के भीतर उतारा,उनकी भाषा, व्यंगों और आक्षेपों का सहारा लेकर पंछी के रूप में लापरवाह ने यह चेष्टा की, कि हर एक के भीतर का वास्तविक पंछी बाहर आ जाय। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ सफलता भी उसे मिली। बहुत से लोग पंछी की शैली के नाम पर उसकी प्रशंसा करते थे, बहुत से उसके तथ्यों की सत्यता और खरेपन के लिए प्रशंसा करते थे, और कुछ ऐसे भी थे जिन्हें प्रशंसा करने का रोग लगा हुआ था। लापरवाह ने अच्छी प्रकार देखा कि बहुत से लोगों के शत्रु बाहर आ गए हैं, लेकिन वे उनसे पराजित भी हो गए। उन्हें लापरवाह की सारी कहानी पढ़ने में रुचि नहीं रही अन्यथा वे अपने शत्रु को समाप्त कर सकते थे। जो लगातार पढ़ते हैं, उन्हें अवश्य लाभ होगा। अपने इस शत्रु को बाहर निकालने में बहुत से लोगों को लज्जा और भय होता है। पंछी के रूप में लापरवाह ने उन्हें निर्भय और सत्यवादी बनाकर उनकी शक्ल आइने में देखने योग्य बनाई है। लापरवाह का यह आचरण कपट पूर्ण जरूर कहा जा सकता है लेकिन यह तरीका जरूर है, जिससे दूसरों की सहायता की जा सकती है।

तीसरा कारण एक और भी था। विरोध के समय व्यक्ति अपना सन्तुलन खो देता है। उसकी कुण्ठा उस पर इतनी हावी हो जाती है, कि वह विवेक की अपेक्षा गालियों पर उतर आता है जिसका परिणाम यह होता है कि हम विरोधी को सुनना पसन्द नहीं करते। लापरवाह ने पंछी के रूप में यही काम किया कि विरोध सुनने योग्य बनाया जाय, उसे सुना जाय, उस पर मनन किया जाय, और अन्त में उसे तर्क–बुद्धि द्वारा खंडित किया जाय। विरोध में कटुता और कुंठा को ठीक उसी प्रकार टाल देना चाहिए जिस प्रकार फल खाते समय हम उसके छिलके और गुठली को यत्नपूर्वक टाल देते हैं। मैं नहीं जानता कि इसमें लापरवाह कितना सफल हुआ है पर यह अंगीकार करता हूँ कि कटुता का कुछ न कुछ तो अभिनय करना ही पड़ता है अन्यथा विरोध केवल एक नपुंसक सुझाव के रूप में ही रह जाता है।

एक और भी कारण था। जब हम दर्पण में अपना मुँह नहीं देखते तब तक हम सारे संसार को घिनौना,निकृष्ट और बदसूरत ही बतायेंगे। जब हमें

दर्पण में देखने का अभ्यास होगा तब हमारी अपने विषय की बहुत सी गलत फहमियां दूर हो जायेगी। बड़े कार्य करने वालों में इतना अवश्य साहस होना चाहिये कि वे निधड़क दर्पण के सामने जा सकें। पंछी के रूप में लापरवाह ने यह चेष्टा की है कि हमें आत्मचिन्तन का अवसर मिले और हम पहचान सकें कि हम क्या हैं ? इसमें कोई बुरी बात नहीं। अपनी गलती को सुनना साहसी और वीर पुरुष का काम है। कायर सदैव पीठ पीछे बुराई किया करते हैं। सामने आकर एक शब्द कहने में जितना आत्मबल होना चाहिए, कायरों में उसका लक्षांश भी नहीं होता। अतः लापरवाह की नजरों में पंछी ने कुछ बुरा नहीं किया। फिर भी उसे यह अंगीकार करते कुछ संकोच नहीं है, कि जो कुछ किया है, उसी ने किया है।

अब अन्तिम प्रश्न उठेगा कि यह बातें सीधे–सादे ढंग से लेखों द्वारा कही जा सकती थी फिर ये कलाबाजियां और नोंक झोंक किस लिए। उत्तर में लापरवाह यही कहेगा कि आप संघशक्ति के पाठक हैं, घसियारे नहीं। घास काटना और घास काटने वाले को देखते रहने में रुचि नहीं होती। सीधे तरीके से यदि रामायण कही जाय तो सिर्फ इतनी है, एक था राम; एक था रावण, वो स्त्री को ले गया और उसने उसको मार डाला। किन्तु इसी कथानक को सजा संवारकर लिखने के कारण संस्कृत में बाल्मीकि,अवधि में तुलसीदास और खड़ी बोली में मैथिलीशरण गुप्त ने महाकवि की पदवी पाई। पंछी ने भी अपनी योग्यता के अनुसार बातों पर मसाला लगाया है ताकि उन्हें रुचिपूर्वक पढ़ा जाय।

फिर भी लापरवाह इस बात को मानता है, कि उसने पंछी के रूप में जो कुछ कहा वह बहुत कटु,करारा और कभी–कभी भौंडा भी था। उसने अपनी वस्तुस्थिति को स्पष्ट कहना ही ठीक समझा और लापरवाह के नाम से केवल एक लेख और लिखेगा और उसके बाद वह अपने नाम से लिखना प्रारम्भ करेगा। पाठक फिर भड़क उठे होंगे, कि क्या मेरा तीसरा नाम भी है ? जी हां, अनेक नाम हैं किन्तु अनेक रूप नहीं। पर अब जब आत्मोद्घाटन का ही विचार कर लिया है तो वह भी सब कह डालूंगा लेकिन इस प्रकरण में नहीं, अगले प्रकरण में, और उसी अंक के साथ लापरवाह के संस्मरण समाप्त होकर किसी और की ही कथा नये वर्ष से शुरू होगी।

प्रकरण : बारह

मेरा आक्रोश

पिछले प्रकरण में मैंने निवेदन किया था, कि यह मेरा आखिरी संस्मरण होगा। अब मेरी रुचि नहीं है, कि मैं अपनी लापरवाही से लोगों का मनोरंजन करूं। सच तो यह है कि मेरे संस्मरणों का यह कभी उद्देश्य नहीं रहा, कि इससे पाठकों का मनोरंजन हो। मैं तो आप बीती लिखता हूँ, मेरे लिए और मेरी ही राह पर चलने वाले बाद में आने वाले मुसाफिर के लिए। लेकिन पाठकों को शिकायत है। कुछ को यह शिकायत है कि मैं लापरवाह के नाम से क्यों लिखता हूँ।

लापरवाह को यह बात समझ में नहीं आती कि पाठकों को इससे क्या आपत्ति है, कि मैं अपना नाम लापरवाह लिखूं। जो लिखा गया है, वह यदि मेरी गाढी अनुभूतियों और विचारों का सार है, तो उन्हें उसी अर्थ में क्यों नहीं लिया जाता ? यदि इन संस्मरणों में कुछ भी सत्य है, तो सत्य को ग्रहण करने के अतिरिक्त उत्पत्ति, स्वभाव और भविष्य के सम्बन्ध में विचार कर क्या वे डाक्टरी हासिल करेंगे ? अभागे वे साहित्य के डॉक्टर हैं जो वस्तु या तथ्य का सांगोपांग विश्लेषण कर उसका सांगोपांग इतिहास लिख मारेंगे लेकिन उस वस्तु से सदैव दूर रहेंगे जिसका वे वर्णन कर चुके हैं। अपने संस्मरणों के सम्बन्ध में मेरा यह पहला आक्रोश है।

यदि लापरवाह के संस्मरणों में जो कुछ लिखा गया है, वह शाब्दिक, मानसिक अथवा निरी बौद्धिक कलाबाजी है, तो पाठक की इस विषय में रुचि होना भी निरर्थक है, कि इस संसार में असंख्य बेहूदी बातों को लिखने वालों की सूची तैयार की जावे जिसमें मेरा भी नाम लिखने की तत्परता बताई जाय। होना तो यही चाहिये कि विचार और उसके उद्देश्य को लेकर उसके आकार और प्रकार को छोड़ दिया जाय, लेकिन होता यह है कि उस तक न पहुंच कर बहुत से लोग आकार और प्रकार में उलझ जाते हैं। लापरवाह को ऐसे लोगों पर आक्रोश है, किन्तु जब मैं अपना अन्तिम संस्मरण लिख रहा हूं तो मुझे अपना परिचय प्रकट करने में कोई आपत्ति नहीं है। पाठक यदि सच माने तो पंछी और लापरवाह के नामों में कोई भेद नहीं और यदि पूर्व इतिहास की टोह लेना चाहें तो भिखारी का नाम भी मेरा ही है। पर स्वयं लापरवाह

नामों को कोई महत्त्व नहीं देता वह तो केवल काम को ही महत्त्व देता है और इसी उद्देश्य से वह संस्मरण लिखता आ रहा है।

लापरवाह को इस बात की कोई परवाह नहीं है, कि कुछ लोग इस विषय में कुछ भी सोचें। वह तो केवल अपने प्रति लापरवाह नहीं है और इसलिए उसे जो ठीक लगता है, लिख मारता है, ईमानदारी से ठीक लिखता है और इस ईमानदारी के प्रमाणपत्र की भी उसे आवश्यकता नहीं है। सबसे बड़ा आरोप जो यदा कदा सुनने में आता है,वह यह कि लापरवाह, पंछी और भिखारी के लेखों में एक व्यक्तिगत व्यंग झलकता है, जिसमें साहित्य का दुरुपयोग होता है और पाठक उसमें उलझ जाता है। उन लोगों की यही अपेक्षा है, कि लापरवाह किसी भी व्यक्ति के जीवन की किसी भी घटना का कुछ भी उल्लेख न करे और शुद्ध साहित्यिक और उन उच्च स्तरीय बातों का उल्लेख करे, जिनसे किसी को कुछ भी बुरा न लगे। जहाँ तक पाठकों के आक्रोश का प्रश्न है, लापरवाह अपने इस संस्मरण में उसका उत्तर देना चाहेगा, पर साथ ही आरोपों के मूलभूत तथ्यों पर भी विरोध प्रगट करेगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी शुद्ध साहित्यिक रचना अलौकिक स्फूर्णा देती है और साहित्य के सत्यं शिवम् सुन्दरम् का लक्ष्य पूरा करती है। पर लापरवाह का यहां मतभेद है। वह ऐसी साहित्यिक रचनाओं को 'सुन्दर' का विशेषण तो अवश्य देगा पर 'शिवम्' और 'सत्य' के लिए इनकार करेगा। शुद्ध साहित्यिक रचनाएं उस सौन्दर्य का सृजन तो अवश्य करती हैं जो सतोगुणीय भाव का विकास करे लेकिन लापरवाह साहित्य को साध्य नहीं मानता। वह तो उसे साधन मानता है। शुद्ध सतोगुणीय भाव का खड़ा होना उसकी दृष्टि में केवल तभी सम्भव होगा जब वह तमोगुण को आक्रान्त करता हुआ रजोगुण की आधार शिला पर खड़ा होगा। अर्थात कोई भी प्रकाश जीवन में प्रेरणा तभी दे सकेगा, जब वह अन्धकार का संहार करता हुआ क्रिया और इच्छा की आधार भूमि पर खड़ा होगा। साहित्य यदि भाव सृजन करता है, पर सत्कर्म की प्रेरणा व इच्छा पैदा न करता हो और कुकर्म का संहार न करता हो, तो वह सतोगुण केवल बौद्धिक, मानसिक अथवा केवल शैक्षणिक ही रहेगा। लापरवाह चाहता है कि कर्म और साधना के क्षेत्र में साहित्य भी साधन बनकर प्रेरणा दे और साधना के महान सत्य की उपलब्धि में योगदान करे।

यदि पाठक उपरोक्त सिद्धान्त से सहमत हों तो लापरवाह अपने संस्मरणों के अन्य औचित्य पर आयेगा, पर उससे पहले वह आरोपों के

आधारभूत तथ्यों पर टिप्पणी भी करेगा। उसे स्मरण है कि आज तक ऐसा कोई लेख प्रकाशित नहीं हुआ जिसमें किसी का नाम प्रकट हुआ हो। हां अनेक लोगों और विशेषतः लापरवाह के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का कहीं– कहीं उल्लेख अवश्य हुआ है, किन्तु केवल उस सत्य की पुष्टि और प्रतिष्ठा के लिए जिसकी सिद्धान्त रूप में कहीं चर्चा हो चुकी हो। इस दृष्टि से लापरवाह को ऐसी किसी घटना के मूल तत्वों को प्रकट करने का पूर्ण औचित्य है, क्योंकि लापरवाह यह जानता है कि उसका उद्देश्य किसी व्यक्ति विशेष को नीचा दिखाना नहीं, अपितु उन आगन्तुकों और राहगीरों को सावधान करना है जो इस राह से कभी गुजर सकते हैं। इतना ही नहीं लापरवाह उन सब तथ्यों के पीछे इस व्यापक और सामााजिक उद्देश्य के प्रति लापरवाही का भी त्याग करना चाहता है।

लापरवाह को यह समझ में नहीं आया कि कोई भी पाठक सरहद्दी जैसे देश द्रोहियों को नाम लेकर उन पर कीचड़ उछालने को तो गवारा कर लेगा लेकिन समाज के वर्तमान काल में जब इतिहास सतत् रूप से अविराम गति से बनता है तब इसी प्रकार की घटनाओं का विवेचन करना क्यों बुरा हुआ ? वह समाज मरीज और मुर्दा है, जो केवल भूतकाल से प्रेरणा लेने की बात करता है पर वर्तमान की सभी वस्तुस्थिति पर पर्दा डाले उसके साथ समझौता करना चाहता है। लापरवाह का आक्रोश यही है, कि ऐसा आलोचक स्वयं साहित्य शुद्धता का नारा लगाकर वर्तमान देश काल का हितैषी होने का दावा करता है।

सत्य हमेशा कटु होता है, क्योंकि सहज ढलान की ओर जाने वाले असत्य का पर्दाफाश कर हमारी अधोगामिनी वृत्तियों को ललकारता है। जहाँ कहीं कटु सत्य होगा, उसे उसी रूप में लेना साधक मनोवृत्ति के पाठक के सिवाय कठिन कार्य है। लापरवाह इसीलिए यह मानता है, कि उसकी किसी भी उक्ति में हृदयच्छेदन करनेवाले सत्य के प्रति विरोध की भावना उनकी अवश्य होगी जो सौजन्य के नाम पर अपनी कुंठाओं और कलुष को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते हैं, लेकिन उसे क्षोभ इस बात का है कि उदारता की दुहाई देने वाले गुमराह पाठक को अपनी और समाज की आत्मरक्षा के प्रति घोर लापरवाही का क्या अधिकार है ? वर्तमान समाज सौहार्द्र के नाम पर गन्दगी को संरक्षण नहीं दे सकता, उसे उग्रता पूर्वक ऐसी समस्त प्रवृत्तियों के प्रति क्रान्ति करनी होगी। साहित्य यदि ऐसी क्रान्ति का दूत बनकर कार्य करे तो लापरवाह को इसमें कुछ बुराई नहीं लगती। वह मानता है कि साहित्य का सत्य केवल वर्णनात्मक और कलात्मक ही नहीं उसे रचनात्मक

और निरोधात्मक भी होना चाहिए। सत्य का केवल एक पक्ष लेकर चलना सत्योपासना नहीं है। इसीलिए साहित्य में कटु सत्य का समावेश हो तो लापरवाह की नजरों में बुरा नहीं है।

लापरवाह को इससे भी आगे बढ़कर साहित्य के शिव स्वरूप पर भी कुछ निवेदन करना है। शिव मंगलस्वरूप और परमकल्याणकारी तत्व है। साहित्य यदि 'शिव' के रूप में सृजित होगा तो उसे सर्वकल्याणकारी भावना भी लेनी होगी, पर एक दृष्टिकोण भेद भी है। सामान्य जनसमुदाय के कल्याण का अभिप्राय लापरवाह यही मानता है कि साहित्य में भविष्य के स्वरूप का रचनात्मक आदर्श लक्ष्य अभिव्यक्त हो किन्तु जो कुछ अमंगलकारी और अशिव है उससे निरोध और संयम की शिक्षा भी साहित्य द्वारा ही मिलनी चाहिए। सीधे सादे शब्दों में लापरवाह यह कह सकता है, कि एक ओर साहित्य अस्तेय की शिक्षा अवश्य दे और दूसरी ओर चोर और चोरी की फिसलन से बचने की प्रेरणा भी दे। इस क्रिया में उसे चोर और चोरी की निन्दा भी करनी पड़ती है। यह निन्दा चोरी की है न कि उस व्यक्ति की है जो चोरी करता है। लापरवाह तो यहां तक कहता है कि चोर की निन्दा करना भी व्यक्ति विशेष की निन्दा नहीं है बल्कि उस चरित्र की निन्दा है जिसे उक्त व्यक्ति ने अपने लिए अंगीकार कर लिया है।

इस लक्ष्य पूर्ति के अभाव में कोई साहित्य रचनात्मक, सत्य और शिव होने का दावा नहीं कर सकता। लापरवाह की तो यहां तक मान्यता है, कि दुष्ट का संहार करना भी दुष्ट पर कृपा करना है। उसका संहार भी दया और कृपा की भावना से प्रेरित होकर होना चाहिए न कि बदले की भावना से अथवा दण्ड देने की भावना से। यदि हम किसी को बुरा भला कहते हैं, इस भावना से नहीं कि उसे नीचा दिखाया जाय, बल्कि इस भावना से कि वह बुराई छोड़ दे, तो इसमें क्या दोष है। पिता अपने पुत्र को, यहां तक कि मित्र अपने मित्र को भी खरी खोटी सुना सकता है पर सुनाता है, तब मित्र या पुत्र के हित की भावना से ही ऐसा करता है। यह बात सत्य है, कि साहित्य को भी केवल बौद्धिक चोंचलेबाजी नहीं बनकर उसे रचनात्मक दृष्टि से समाज को मार्ग दर्शन और संरक्षण प्रदान करना चाहिए।

लापरवाह ने मोटे रूप से अपने संस्मरणों के तथाकथित आक्षेपों का समाधान करने की चेष्टा की है, पर उसका आग्रह यह नहीं कि समाधान के तर्क और उसकी भावना को उसी रूप में स्वीकार कर लिया जाय। विचार स्वातंत्र्य के इस युग में हर एक को अपने–अपने विचार और मान्यता को

बनाने और बिगाड़ने का पूरा हक है। लापरवाह इसीलिए ऐसे समाधान की सफलता और असफलता पर चिन्तित नहीं है। उसे तो केवल इतनी ही परवाह है, कि वह स्वयं अपने आप में स्पष्ट रहे और जो कुछ कहना है, उसे साफ–साफ और विस्तार में कह डाले। परिणाम में कोई माने अथवा नहीं, लापरवाह उसकी परवाह नहीं करता क्योंकि मैं लापरवाह जो ठहरा।

परवाह न करने का दूसरा कारण यह भी है, कि लापरवाह को अपने संस्मरण संघशक्ति में भेजने नहीं हैं। उसने पंछी के रूप में पाठकों की दो वर्ष तक सेवा की है। बहुत लोगों ने सराहा पर कुछ लोग उससे भी असन्तुष्ट हो चुके थे। उससे पहले भिखारी के रूप में डेढ वर्ष तक सेवा की। उसमें भी दोनों प्रकार के पाठक मिले और अन्त में लापरवाह के रूप में साल भर संस्मरण निकलवाने के बाद अब उसकी इच्छा नहीं कि वह इसे लम्बा करे। इन पिछले बारह प्रकरणों में लगातार और नियमित रूप से लिखना भी मेरे जैसे लापरवाह व्यक्ति के लिए आश्चर्य की बात थी।

बुराई से दूर रहने का अच्छा उपाय यही है, कि हमें मालूम हो कि बुरा क्या है ? दूसरों में जहाँ कहीं बुराई दिखाई दे, उसे समझना आवश्यक है, ताकि हम वैसी गलती न करें। इतिहास मीर कासिम पर कालिख पोतने के लिए नहीं लिखा जाता पर इसलिए लिखा जाता है कि हम खुद मीर कासिम न बनें। इस दृष्टि से अपनी खुद की बुराइयों को भी अवश्य देखना चाहिए। हमारी नजरें प्रायः हमारी बुराइयों को नहीं देखती। इसीलिए आलोचना करना आसान है, किन्तु रचनात्मक साधना कुछ और है। वह आलोचना का क्रियात्मक विकल्प अपने आप में प्रकट करती है, केवल उपदेश से साधक संतुष्ट नहीं हो सकता। लापरवाह ने इसीलिए साधना का क्षेत्र पसन्द किया है और वह अपनी बुराइयों को भी भली भाँति जानता है।

लगे हाथ मैं अपनी सबसे भयंकर बुराई का वर्णन भी कर डालूं ताकि आपको भी मालूम हो जाय कि लापरवाह क्या वस्तु होती है ? मेरी सबसे बड़ी भूल है– विश्वास करने में लापरवाही करना। जो साथ चला उसे साथी ही नहीं आत्मीय मानता गया हूं। जिसने विश्वासघात किया उससे भी मेल बैठाने में लापरवाह कभी हिचकता नहीं। यह जानते हुए कि असन्तुष्ट व्यक्ति का सन्तोष सदैव ही निःस्वार्थ भाव पर नहीं रहता फिर भी उसके स्वार्थ की ओर जाने और उस पर विवेचन करने में लापरवाह प्रायः लापरवाही कर डालता है। बहुत बार सम्बन्ध बनाने वालों ने मेरी इस लापरवाही का नाजायज फायदा उठाया है, पर घर आये विरोधी से भी बेरुखी नहीं बता

सकता। सोचता हूँ प्रकृति जिस ओर मुझे बहाये ले जा रही है, बहने में क्या एतराज है ? लेकिन ठोकर खाने के बाद इस बात के लिए पछताता हूँ कि